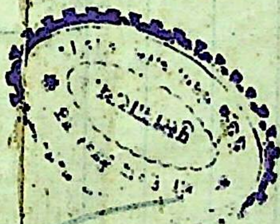
वे
५०५

ज.नं. ५६८ वे
१३२२
८६८

ॐ

९८

स्वामी धर्मानन्द तीर्थ



तपोभिः क्षीणपापानां शान्तानां वीतरागिणाम्। मुमुक्षूणामपेक्ष्योऽयमात्मबोधो विधीयते ॥१॥

आत्मबोधः

बोधोऽन्यसाधनेभ्यो हि साक्षान्मोक्षैकसाधनम् ।
पाकस्य वह्निवज्ज्ञानं विना मोक्षो न सिद्ध्यति ॥ २ ॥

अन्वयः—हि अन्यसाधनेभ्यः बोधः पाकस्य वह्निवत् साक्षात् मोक्षैकसाधनम्, (यस्मात्) ज्ञानं विना मोक्षः न सिद्ध्यति ॥ २ ॥

अर्थ—मोक्ष के अन्यत्र जो जप तप योग आदि साधन कहे हैं वे परम्परा साधन हैं अर्थात् जप तप योग आदि करने से आत्मज्ञान का अधिकारी होता है बाद आत्मज्ञान के मोक्ष साक्षात् कहा है। अर्थात् मोक्ष का साक्षात् कारण आत्मज्ञान ही है और सब सहकारी कारण हैं। जैसे पाक में मुख्य कारण अग्नि ही है काष्ठ अन्न जल स्थाली चुल्ही दर्वी परिघट्टन आदि सहकारी कारण हैं। अतएव ज्ञान के विना मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। यही श्रुतियों में भी प्रतिपादित है। 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्'। 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' अर्थात् ज्ञान से ही मोक्ष होता है, ज्ञान के विना मोक्ष नहीं होता। और भी कहा है 'ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः' अर्थात् प्रकाशरूप ब्रह्म को जानने पर ही सब बन्धनों की हानि (नाश) होती है। यही बात स्मृति में भी प्रतिपादित है। तपसा कल्मषं हन्ति विद्ययाऽमृतमश्नुते।' अर्थात् तप से अन्तःकरण के पापों का नाश होता है और ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है। इससे यह सिद्ध हुआ कि ज्ञान के विना मोक्ष नहीं होता ॥ २ ॥

अवतरण—विशिष्ट कर्मानुष्ठान से ही राजा जनक आदि

श्रेष्ठ गति के भागी भये अतः जब श्रेष्ठ कर्म के द्वारा अज्ञान का निर्मूल हो जाता है तब मुक्ति स्वयं ही हो जायगी, इससे ज्ञान के द्वारा अज्ञान का नाश मानना व्यर्थ क्यों न कहा जाय ? ।

अविरोधितया कर्म नाविद्यां विनिवर्तयेत् ।
विद्याऽविद्यां निहन्त्येव, तेजस्तिमिरसंघवत् ॥३॥

अन्वयः—कर्म अविरोधितया अविद्यां न निवर्तयेत्, तेजः तिमिरसंघवत् विद्या अविद्यां निहन्ति एव ॥ ३ ॥

कर्म तथा अविद्या एक दूसरे के परस्पर अविरोधी हैं। अर्थात् विरोधी नहीं हैं, किन्तु दोनों ही जड़ हैं। और "सति विरोधे बलवता दुर्बलो बाध्यते" इस न्याय से विरोध रहते ही बलवान् से दुर्बल बाधित होता है। अतः कर्म अविद्या का निवर्तक नहीं है किन्तु विद्या तथा अविद्या परस्पर एक दूसरे के विरोधी हैं। जैसे प्रकाश के प्रादुर्भाव होने पर अन्धकार का नाश हो जाता है, उसी तरह विद्या के प्रादुर्भूत होने पर अविद्या का नाश हो जाता है। अर्थात् विद्या ही अविद्या का निवर्तक है। मैं शुद्ध बोध मुक्तस्वरूप ब्रह्म हूं, इस प्रकार ज्ञान होने पर मैं मनुष्य हूं, सुखी हूँ, दुखी हूं, इत्यादि अविद्यारूप अज्ञान का नाश हो जाता है ॥ ३ ॥

अवतरण—आत्मा प्रतिशरीर में परिच्छिन्न है, अर्थात् जन्म से ही नाशवान् प्रतीत होता है तो जीव ब्रह्म की एकता के ज्ञान होने से अज्ञान की निवृत्ति कैसे ? ।

परिच्छिन्न इवाज्ञानात्तन्नाशे सति केवलः ।
स्वयं प्रकाशते ह्यात्मा मेघापायेंऽशुमानिव॥४॥

अन्वयः—आत्मा अज्ञानतः परिच्छिन्न इव (आभाति) तन्नाशे सति मेघापाये अंशुमान् इव केवलः स्वयम् हि प्रकाशते ॥ ४ ॥

यद्यपि आत्मा अज्ञान से प्रतिशरीर में परिच्छिन्न (आच्छान्दित) के समान प्रतीत होता है तथापि अज्ञान के नाश होने पर अपरिच्छिन्न स्वयं प्रकाशरूप रहता है अर्थात् व्यापकरूप अद्वितीय आत्मा, अज्ञान से कल्पित देव मनुष्य आदि शरीर के अध्यास से परिच्छिन्न के समान प्रतीत होता है और जब 'तत्त्वमसि' 'तदेवाहं ब्रह्म' इत्यादि महावाक्यों के द्वारा आत्मा और ब्रह्म में ऐक्य ज्ञान होने पर तथा अज्ञान से होनेवाले मिथ्या अध्यासरूप आरोप का नाश होने से सजातीय, विजातीय, स्वगत भेदों से रहित स्वप्रकाश ब्रह्मरूप प्रतीत होता है। जैसे अखण्ड सूर्यमण्डल बादलों के समूह से आच्छादित होने पर उसकी ज्योति जिस तरह जगह २ बादलों के छिद्रों में से प्रकाशित होती है और बादलों के हट जाने पर सूर्य-मण्डल का पूर्ण प्रकाश हो जाता है। उसी तरह जब तक जीव इस अविद्यारूप शरीर में घिरा रहता है तबतक अखण्ड आत्मतत्त्व का ज्ञान नहीं होता और जब अविद्या दूर हो जाती है तब स्वयं ही प्रकाशमान ब्रह्मरूप प्रतीत होने लगता है ॥ ४ ॥

अवतरण—अज्ञान के नाश से केवल (अद्वितीय)

ब्रह्मरूप आत्मा का होना असम्भव है क्यों कि, अज्ञान को नाश करनेवाले वृत्तिज्ञान के होने से द्वैत की सिद्धि होगी, ब्रह्मज्ञान की नहीं ।

अज्ञानकलुषं जिवं ज्ञानाभ्यासाद्धि निर्मलम् ।
कृत्वा ज्ञानं स्वयं नश्येज्जलं कतकरेणुवत् ॥५॥

अन्वयः—ज्ञानाभ्यासात् ज्ञानम् अज्ञानकलुषं जीवं हि निर्मलं कृत्वा जलम् निर्मलं कृत्वा कतकरेणुवत् स्वयं नश्येत् ॥ ५ ॥

जीवात्मा अज्ञान से मलीन है परन्तु वास्तव में शुद्ध है। यह जीवात्मा कर्ता भोक्ता नहीं है किन्तु सत् चित् आनन्द स्वरूप है। जब जीवात्मा अज्ञान से अपने को कर्ता भोक्ता जीवरूप भ्रम के द्वारा मानता है। इस अवस्था में अज्ञान से मलीन भी जीवात्मा ज्ञान के अभ्यास से निर्मल है अर्थात् कर्ता भोक्ता से भिन्न सत् चित् आनन्द कूटस्थ साक्षीरूप ब्रह्म है। यह पूर्वोक्त ज्ञानाकार वृत्तिज्ञान को उत्पन्न कर जल को निर्मल करनेवाली कतकरेणु (निर्मली बूटी) के समान आप भी नष्ट हो जाता है। यह बात संशय रहित है ॥ ५ ॥

अवतरण—जब संसार साक्षात् प्रत्यक्षरूप से सत्य प्रतीत होता है तो आत्मा के केवलरूपता के ज्ञान से ब्रह्म की अद्वैतता किस प्रकार सिद्ध हो सकती है ? ।

संसारः स्वप्नतुल्यो हि रागद्वेषादिसंकुलः ।
स्वकाले सत्यवद्भाति प्रबोधेऽसत्यवद्भवेत् ॥ ६ ॥

अन्वयः—हि रागद्वेषादिसंकुलः स्वप्नतुल्यः संसारः स्वकाले सत्यवत् भाति, प्रबोधे असत्यवत् भवेत् ॥ ६ ॥

मिथ्या जगत् से आत्मा की अद्वैतता में हानि नहीं हो सकती। क्योंकि राग द्वेष आदि से व्याप्त यह संसार स्वप्न के तुल्य है। स्वप्न के समय की जो अवस्था है वह स्वप्नकाल में ही सत्य के समान प्रतीत होती है, किन्तु जब प्रबोध होता है, अर्थात् जाग्रत् अवस्था का आरम्भ होता है तब आत्मा और ब्रह्म की एकता के ज्ञान के बाद क्षणमात्र में असत्य (मिथ्या) सा दीखने लगता है। अतः मिथ्या जगत् से आत्मा की अद्वैतता में हानि नहीं हो सकती है ॥६॥

अवतरण—यदि संसार यथार्थ में स्वप्न के समान असत्य ही है तो कबतक सत्य के समान तथा असत्य किस प्रकार प्रतीत होता है ?।

तावत्सत्यं जगद्भाति शुक्तिकारजतं यथा।
यावन्न ज्ञायते ब्रह्म सर्वाधिष्ठानमद्वयम् ॥ ७ ॥

अन्वयः—यावत् सर्वाधिष्ठानम् अद्वयम् ब्रह्म न ज्ञायते, तावत् यथा शुक्तिकारजतम् तथा सत्यम् भाति ॥७॥

जबतक नील पृष्ठवाली त्रिकोणाकार शुक्ति (सीपी) का ज्ञान नहीं होता तभीतक शुक्ति (सीपी) का रजत (चांदी) सत्य सा प्रतीत होता है उसी तरह जबतक सब के अधिष्ठान अद्वैत ब्रह्म का ज्ञान नहीं होता है तभीतक यह जगत् (संसार) सत्य सा दीख पड़ता है और ब्रह्मज्ञान के बाद ही शुक्ति रजत के समान मिथ्या प्रतीत होने लगता है ॥ ७ ॥

अवतरण—यह सम्पूर्ण जगत् (संसार) ब्रह्म में वास्तविक या कल्पित है इसको दृष्टान्त द्वारा स्थिर करते हैं।

सच्चिदात्मन्यनुस्यूते नित्ये विष्णौ प्रकल्पिताः।
व्यक्तयो विविधाः सर्वा हाटके कटकादिवत् ॥८॥

अन्वयः—सच्चिदात्मनि अनुस्यूते नित्ये विष्णौ सर्वाः विविधाः व्यक्तयः हाटके कटकादिवत् प्रकल्पिताः ॥८॥

सत् चित् आत्मा अनुस्यूत अर्थात् जैसे मणियों में सूत्र पुहा रहता है और मणियां सूत्र में अनुगत हैं इस प्रकार ओत प्रोत और नित्य और व्यापक सब जगत् के उपादान कारणरूप ब्रह्म में अनेक प्रकार की देव मनुष्य पशु कीट आदि व्यक्तियां इस प्रकार कल्पित हैं जैसे सुवर्ण में कटक कुण्डल आदि कल्पना मात्र हैं। वस्तुतः यथार्थ में सुवर्ण ही सत्य है इससे नानारूपात्मक जगत् कटक कुण्डल के समान मिथ्या है और शुद्धस्वरूप आत्मा सत्य है ॥ ८ ॥

अवतरण—यदि प्रपञ्च मिथ्या और जीव भेद सत्य हैं तो प्रपञ्च का अधिष्ठान रूप जो परमात्मा है वह सत्य और अद्वितीय किस प्रकार प्रतीत होता है?।

यथाऽऽकाशो हृषीकेशो नानोपाधिगतो विभुः।
तद्भेदाद्भिन्नवद्भाति तन्नाशे सति केवलः ॥ ९ ॥

अन्वयः—यथा नानोपाधिगतः विभुः आकाशः तद्भेदात् भिन्नवत् भाति, तन्नाशे सति केवलः हृषीकेशः ॥९॥

जिस तरह आकाश व्यापक है, परन्तु घट मठ गृह आदि उपाधियों में प्रविष्ट होने से उन उपाधियों के भेद से घटाकाश, मठाकाश, और गृहाकाश रूप इत्यादि प्रतीत होता है और घट मठ गृह आदि पदार्थों के नष्ट हो जाने पर केवल आकाशमात्र शेष रह जाता है। इसी तरह हृषीकेश अर्थात् सम्पूर्ण इन्द्रियों का ईश्वर (प्रेरक) जो परमात्मा है वह विभु अनेक प्रकार के देहादि उपाधियों में प्रविष्ट होने से उन उपाधियों के भेद से भिन्न भिन्न प्रतीत होता है, परन्तु उपाधियों के नष्ट हो जाने पर केवल एक असङ्ग ब्रह्मरूप ही रह जाता है ॥ ९ ॥

अवतरण—जब कि आत्मा केवल असङ्ग ब्रह्मरूप ही है, तो मैं ब्राह्मण हूं, मैं ब्रह्मचारी हूं, मैं सन्यासी हूं, मैं क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र हूं इत्यादि, जाति वर्ण आश्रम आदि अनेक प्रकार के भेदों से युक्त आत्मा प्रतीत होता है, यह प्रतीत का होना कैसा ? ।

नानोपाधिवशादेव जातिनामाश्रमादयः ।
आत्मन्यारोपितास्तोये रसवर्णादिभेदवत् ॥१०॥

अन्वयः—नानोपाधिवशात् एव तोये रसवर्णादि-भेदवत् आत्मनि जातिनामाश्रमादयः आरोपिताः (वर्तन्ते) ॥ १० ॥

वस्तुतः आत्मा में जाति वर्ण आश्रम आदि धर्म कल्पित ही हैं यथार्थ नहीं हैं, जिस प्रकार जल में रस अर्थात् तिक्त कषाय लवण आदि के सम्बन्ध से जल का स्वाद भी कटु तिक्त कषाय लवण सा प्रतीत होने लगता है, और

वर्ण अर्थात् नील पीत रक्त श्याम आदि रङ्ग के सम्बन्ध से नील पीत रक्त श्याम प्रतीत होने लगता है, परन्तु, जल में वास्तविक मिष्ठ रस और श्वेत वर्ण ही है। इसी प्रकार अनेक जाति वर्ण आश्रम आदिकों के साथ एकता होने से आत्मा में भी अनेक जाति वर्ण आश्रम आदि प्रतीत होते हैं, यह प्रतीत होना भ्रम है। वास्तव में जिस तरह जल निर्मल और शुद्ध है, उसी तरह आत्मा भी निर्मल और शुद्ध है ॥१०॥

अवतरण—आत्मा में अविद्या से कल्पित स्थूल शरीर रूप उपाधियों का स्वरूप वर्णन।

पञ्चीकृतमहाभूतसम्भूतं कर्म सञ्चितम् ।
शरीरं सुखदुःखानां भोगायतनमुच्यते ॥११॥

अन्वयः—पञ्चीकृतमहाभूतसम्भवम् कर्म सञ्चितं शरीरं सुखदुःखानां भोगायतनम् उच्यते ॥ ११ ॥

पञ्चीकरण किये गये जो पञ्च महाभूत अर्थात् पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश ये जगत् के परिणामी उपादान कारण हैं इनसे उत्पन्न और प्रारब्ध कर्मों से सञ्चित अर्थात् रचित जो स्थूल शरीर है यह शरीर आत्मा में कल्पित सुख दुःखों के भोगने का स्थान है ॥ ११ ॥

अवतरण—आत्मा में अविद्या से कल्पित सूक्ष्म शरीर रूप उपाधियों का स्वरूप वर्णन।

पञ्चप्राणमनोबुद्धिदशेन्द्रियसमन्वितम् ।
अपञ्चीकृतभूतोत्थं सूक्ष्माङ्गं भोगसाधनम् ॥१२॥

X आत्म-ज्ञान

अन्वयः—पञ्चप्राणमनोबुद्धिदशेन्द्रियसमन्वितं अपञ्चीकृतभूतोत्थं सूक्ष्माङ्गं भोगसाधनम् उच्यते ॥१२॥

पञ्च प्राण अर्थात् प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान और सङ्कल्प अन्तःकरण वृत्तिस्वरूप बुद्धि, और दशेन्द्रिय अर्थात् पञ्च ज्ञानेन्द्रिय (आस्य, हस्त, लिङ्ग, गुदा, पाद) इन सत्रह तत्वों से समन्वित (युक्त) और अपञ्चीकृत पांच सूक्ष्म महाभूतों से उत्पन्न जो सूक्ष्म शरीर वह भोगों का साधन अर्थात् कारण है ॥ १२ ॥

अवतरण—कारण शरीर रूप उपाधि स्वरूप वर्णन।

अनाद्यविद्यानिर्वाच्या कारणोपाधिरुच्यते ।
उपाधित्रितयादन्यमात्मानमवधारयेत् ॥ १३ ॥

अन्वयः—अनिर्वाच्या अनाद्यविद्या कारणोपाधिः उच्यते, आत्मानम् उपाधित्रितयात् अन्यम् अवधारयेत् ॥१३॥

सत्य तथा असत्यरूपी कहने से अनिर्वचनीय जो अनादि सिद्ध अविद्या अर्थात् माया है, वह समष्टि व्यष्टिरूप जगत् स्थूल सूक्ष्मरूप शरीर आदि का उपादान कारण है और कारणोपाधि कही जाती है परन्तु पूर्वोक्त स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीररूप (इन तीन) उपाधियों से भिन्न तथा साक्षीरूप आत्मा का निश्चय करे ॥ १३ ॥

अवतरण—उपाधित्रय से भिन्न सत् चित् आनन्दस्वरूप आत्मा हो परन्तु 'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः' अर्थात् अथवा वह यह पुरुष अन्नरसमय है, इस श्रुति के प्रमाण से अन्नरसमय कोश रूप ही आत्मा प्रतीत होता है।

पञ्चकोशादियोगेन तत्तन्मय इव स्थितः।
शुद्धात्मा नीलवस्त्रादियोगेन स्फटिको यथा॥१४॥

अन्वयः—यथा स्फटिकः नीलवस्त्रादियोगेन तत्तन्मय इव (प्रतीयते), तथा शुद्धात्मा पञ्चकोशादियोगेन (तत्तन्मय इव) स्थितः॥ १४॥

जिस तरह भ्रमवश स्वभाव से शुद्ध भी स्फटिक मणि, नील पीत रक्त आदि वस्त्रों के सम्बन्ध से नील पीत रक्त वर्ण प्रतीत होता है। इसी प्रकार आत्मा भी निर्मल तथा शुद्ध है। परन्तु पञ्चकोश अर्थात् अन्न के रस से प्राप्त स्थूल देह अन्नमय कोश, पञ्च कर्मेन्द्रिय तथा पञ्च प्राण अपानादि-वायु प्राणमय कोश, पञ्च ज्ञानेन्द्रिय तथा मन मनोमयकोश, पञ्च ज्ञानेन्द्रिय तथा बुद्धि विज्ञानमय कोश, मलिन सत्त्व-गुण के साथ कारण शरीरभूत प्रिय मोदादि वृत्ति सहित अविद्या आनन्दमय कोश कहा जाता है। इत्यादि के योग अर्थात् सम्बन्ध से आच्छादित सत् चित् आनन्द स्वरूप आत्मा तत्तत् कोशों के साथ एकता के भ्रमवश अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय प्रतीत होता है। अन्नमयकोश के साथ एकता के भ्रम से अन्नमय प्रतीत होने पर, 'मैं स्थूल तथा कृश हूं। प्राणमय कोश के साथ एकता के भ्रम से प्राणमय प्रतीत होने पर मैं बुभुक्षित तथा पिपासित हूं। मनोमय कोश के साथ एकता के भ्रम से मनोमय प्रतीत होने पर मैं शरीरी, गृही तथा पुत्रवान् हूं। विज्ञानमय कोश के साथ एकता के भ्रम से विज्ञानमय प्रतीत होने पर मैं ज्ञानी तथा मूर्ख हूं। आनन्दमय कोश के

साथ एकता के भ्रम से आनन्दमय प्रतीत होने पर 'मैं सुखी हूं।' इत्यादि तत्तत् कोशमय आत्मा ही प्रतीत होने लगता है। अर्थात् कोशों के मिथ्या धर्म आत्मा में भ्रम से ही प्रतीत होते हैं। वस्तुतः आत्मा शुद्ध और पूर्वोक्त धर्म रहित एक है। 'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः' इस श्रुति से संशयात्मक प्रश्नकर्त्ता आत्मा के विषय में निश्चय कर रहा है कि आत्मा क्या है ? ; अन्न रसमय या इससे भिन्न है। अतः यह श्रुति भी संगत हो गई ॥ १४ ॥

अवतरण—आत्मा की कोशरूप प्रतीति होने का कारण–पञ्चकोश के साथ आत्मा के सम्बन्ध से कोश में ही आत्मा का अध्यास होता है परन्तु कोश तथा आत्मा के विचार करने से आत्मा कोश से भिन्न, शुद्ध प्रतीति विषय होता है। यह बात आगे के श्लोक से स्पष्ट हो जाती है।

वपुस्तुषादिभिः कोशैर्युक्तं युक्त्याऽवघाततः ।
आत्मानमन्तरं शुद्धं विविच्यात्तण्डुलं यथा ॥१५॥

अन्वयः—यथा तुषादिभिः कोशैः (युक्तम्) तण्डुलम् अवघाततः (तथा) वपुः कोशैः (युक्तम्) अन्तरं शुद्धम् आत्मानं युक्त्या विविच्यात् ॥ १५ ॥

जिस प्रकार तुष अर्थात् छिलके से युक्त चावल कूटने के द्वारा छिलके से रहित होकर शुद्ध रूप प्रतीत होता है, उसी प्रकार वपुः अर्थात् शरीररूप कोश से युक्त आत्मा पञ्चकोशों के अन्दर तथा विचार युक्ति के द्वारा पञ्चकोशों से भिन्न और शुद्धरूप है, ऐसा जानना। पञ्चमहाभूतों

का कार्य अन्नमयकोश जो शरीर है वह आत्मा नहीं है, क्योंकि शरीर अनित्य है, और आत्मा जन्म के पूर्व मरण के बाद भी रहनेवाला नित्य है। पञ्चमहाभूतों का कार्य प्राणमय कोश जो पञ्चकर्मेन्द्रिय तथा पंच प्राण अपानादि वायु हैं वह आत्मा नहीं है, क्योंकि वह प्राणमय कोश जड़ है और वह आत्मा चेतन है। मनोमय कोश जो पञ्च ज्ञानेन्द्रिय तथा मन है वह आत्मा नहीं है, क्योंकि वह मन संकल्प विकल्पात्मक है और आत्मा संकल्प विकल्प से रहित है। विज्ञानमय कोश जो पञ्च ज्ञानेन्द्रिय तथा बुद्धि है वह परिणामी है और आत्मा सदा एक रूप रहने वाला है। आनन्दमय कोश जो मलीन सत्त्व गुण के साथ कारण शरीरभूत, प्रिय, मोद आदि वृत्ति सहित अविद्या है वह आनन्दमय कोश जड़ तथा प्रिय मोदादि वृत्तियों से युक्त है, और आत्मा इन वृत्तियों से रहित, नित्य है। इसलिये क्षणस्थायी इस पञ्चकोश से भिन्न, नित्य, सत् चित् आनन्दरूप आत्मा है ॥ १५ ॥

अवतरण—जब आत्मा नित्य और व्यापक है तो सर्वत्र देखने में क्यों नहीं आता ? ।

सदा सर्वगतोऽप्यात्मा न सर्वत्रावभासते ।
बुद्धावेवावभासेत स्वच्छेषु प्रतिविम्बवत् ॥ १६ ॥

अन्वयः—आत्मा सदा सर्वगतः अपि सर्वत्र न अवभासेत, स्वच्छेषु प्रतिविम्बवत् बुद्धौ एव अवभासेत ॥१६॥

यद्यपि आत्मा सर्वदा (भूत भविष्य वर्तमान काल में) सर्वत्र घट पटादि पदार्थों में वर्तमान है, तथापि उस आत्मा

की प्रतीति केवल बुद्धि में ही होती है, जैसे स्वच्छ पदार्थों में प्रतिबिम्ब की प्रतीति होती है। अर्थात् स्वच्छ दर्पण में स्वच्छ जल में प्रतिबिम्ब का भान होता है, इसी तरह स्वच्छ सत्त्व बुद्धि में ही आत्मा भासता है। और मलीन रजोगुण तमोगुण से जायमान घट पटादि शरीर में आत्मा का भास नहीं होता ॥ १६ ॥

अवतरण—आत्मा सर्वत्र देह इन्द्रियादिकों में व्यापक रूप से रहकर भी उनसे भिन्न तथा विलक्षण स्वरूप है।

देहेन्द्रियमनोबुद्धिप्रकृतिभ्यो विलक्षणम् ।
तद्वृत्तिसाक्षिणं विद्यादात्मानं राजवत्सदा ॥१७॥

अन्वयः—आत्मानं सदा राजवत् देहेन्द्रियमनोबुद्धि-प्रकृतिभ्यः विलक्षणं तद्वृत्तिसाक्षिणं विद्यात् ॥ १७ ॥

आत्मा सर्वदा राजा के समान देह इन्द्रिय मन बुद्धि प्रकृति से भिन्न तथा विलक्षण (अर्थात् प्रकृति के कार्य जड़ तथा परिणामी कहे गये हैं, और यह आत्मा इनसे भिन्न चेतन स्वरूप परिणाम रहित) है और देह इन्द्रिय मन बुद्धि प्रकृति के कार्य का साक्षी है। अर्थात् जैसे सभास्थित राजा समस्त प्रजावर्ग से भिन्न और उन प्रजावर्ग के कार्य का साक्षी (द्रष्टा) मात्र है। इसी तरह आत्मा भी देह इन्द्रिय आदि से भिन्न उनके कार्य का साक्षी मात्र है ॥ १७ ॥

अवतरण—पूर्व श्लोक में आत्मा को साक्षी बतलाया परन्तु साक्षी साक्ष्य से भिन्न होता है और यह आत्मा तो देह तथा इन्द्रियों के साथ व्यवहार करता हुआ प्रतीत होता है सो क्यों ?। (वास्तव में आत्मा सभी व्यापार से रहित है

केवल साक्षीमात्र है जैसा कि गीता में कहा है—"उपद्रष्टा-नुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः। परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः॥" अर्थ—उपद्रष्टा अर्थात् प्रकृति के गुणों के समीप बैठ कर देखनेवाले, अनुमोदन करनेवाले, भर्ता अर्थात् प्रकृति के बढ़ाने वाले, और उपभोग करनेवाले को ही इस देह में परपुरुष महेश्वर और परमात्मा कहते हैं।)

व्यापृतेष्विन्द्रियेष्वात्मा व्यापारीवाऽविवेकिनाम्।
दृश्यतेऽभ्रेषु धावत्सु धावन्निव यथा शशी ॥१८॥

अन्वयः—यथा शशी अभ्रेषु धावत्सु धावन् इव दृश्यते, तथा अविवेकिनां इन्द्रियेषु व्यापृतेषु आत्मा व्यापारी इव दृश्यते ॥ १८ ॥

जैसे चन्द्रमा मेघों के दौड़ने पर दौड़ता हुआ देखने में प्रतीत होता है उसी प्रकार अविवेकियों (अविचारियों) को विषयों के साथ इन्द्रियों के लीन होने पर अर्थात् जब इन्द्रियां विषयों के पास पहुँच कर व्यापार करने लगती है तब आत्मा भी व्यापार करता है ऐसा प्रतीत होता है अर्थात् मूर्ख पुरुष आत्मा को व्यापारी मान लेता है ॥ १८ ॥

अवतरण—जब जड़ पदार्थ देह तथा इन्द्रियां व्यापारी हैं तो इनमें चेतनता भी होनी चाहिये और चैतन्य होने से आत्म-सरूपता भी होनी चाहिये।

आत्मचैतन्यमाश्रित्य देहेन्द्रियमनोधियः।
स्वकीयार्थेषु वर्तन्ते सूर्यालोकं यथा जनाः ॥१९॥

अन्वयः—यथा जनाः सूर्यालोकं आश्रित्य स्वकीयार्थेषु वर्तन्ते तथा देहेन्द्रियमनोधियः आत्मचैतन्यं आश्रित्य स्वकीयार्थेषु वर्त्तन्ते ॥ १६ ॥

जैसे सांसारिक जन सूर्यनारायण के प्रकाश के आश्रय से अपने कार्यों में लगे रहते हैं उसी तरह देह तथा समस्त इन्द्रियां और मन तथा बुद्धि ये सब आत्मा के चैतन्य का आश्रय लेकर स्वकार्य अर्थात् विषयों के साथ वर्तना रूप कार्य में लगे रहते हैं। जैसा सूर्यालोक का जनसमुदाय के साथ सम्बन्ध है वैसा ही देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि का आत्मचैतन्य के साथ सम्बन्ध है। वास्तव में देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि में चेतनता नहीं है, इनमें केवल आत्मा की चेतनता का आभासमात्र होता है वह भी अविवेकियों को। इसलिये जब ये देहादि चैतन्यहीन हैं तो इनमें आत्मसरूपता भी नहीं हो सकती है ॥ १६ ॥

अवतरण—ऊपर कहे हुए दृष्टान्तों से देहादि चेतनरूप नहीं है किन्तु आत्मा चेतन रूप है। परन्तु इस आत्मा में जन्म, यौवन, वृद्धि, मरण, काण, अन्ध, बधिर, दर्शन, स्पर्श, श्रवण आदि के प्रतीत होने से आत्मा भी जन्म मृत्यु वाला प्रतीत होता है। सो अविवेक से आरोपित है वास्तव में आत्मा उपरोक्त धर्मों से रहित और शुद्ध है।

देहेन्द्रियगुणान्कर्माण्यमले सच्चिदात्मनि।
अध्यस्यन्त्यविवेकेन गगने नीलिमादिवत् ॥२०॥

अन्वयः—अमले सच्चिदात्मनि अविवेकेन देहेन्द्रियगुणान् कर्माणि च गगने नीलिमादिवत् अध्यस्यन्ति ॥२०॥

शुद्ध सत् चित् आनन्दरूप आत्मा में अविवेक अर्थात् अज्ञान से देह इन्द्रिय के गुणों का तथा कर्मों का आरोप करते हैं। जैसे आकाश में नील पीत रक्त आदि का आरोप किया जाता है॥ २०॥

अवतरण—उक्त श्लोक से यह सिद्ध हुआ कि देह तथा इन्द्रिय के जन्म मरण आदि धर्म आत्मा में नहीं हैं परन्तु नैयायिक के मत से आत्मा कर्ता भोक्ता माना गया है और मैं सुखी, दुःखी, भोक्ता, कर्ता आदि प्रतीत भी ऐसा ही होता है। क्योंकि कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि धर्म अन्तःकरण के हैं परन्तु इन धर्मों का आत्मा में प्रतीत होना अन्तःकरण और आत्मा की एकरूपता के भ्रम से आरोपित ही है।

अज्ञानान्मानसोपाधेः कर्तृत्वादीनि चात्मनि।
कल्प्यन्तेऽम्बुगते चन्द्रे चलनादिर्यथाम्भसः॥२१॥

अन्वयः—यथा अम्बुगते चन्द्रे अम्भसः चलनादिः कल्प्यते तथा मानसोपाधेः कर्तृत्वादीनि च अज्ञानात् आत्मनि कल्प्यन्ते॥ २१॥

जिस तरह जल में चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब पड़ने से जल के चलन कम्पन आदि धर्म चन्द्रमा में भी माने जाते हैं, वास्तव में चन्द्रमा में वे धर्म नहीं हैं। उसी तरह मानसोपाधि अर्थात् अन्तःकरण के जो कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि धर्म हैं वे भी आत्मा में भ्रम से कल्पित ही हैं। वास्तव में आत्मा में कर्तृत्वादि धर्म नहीं हैं॥ २१॥

अवतरण—उक्त श्लोक से कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि धर्म आत्मा में भ्रम से आरोपित हैं यह सिद्ध हुआ। इसी तरह

२

अन्तःकरण के जो राग द्वेष आदि धर्म हैं वे भी आत्मा में भ्रम से आरोपित हैं। इस बात को अन्वय व्यतिरेक से समझाते हैं।

रागेच्छासुखदुःखादि बुद्धौ सत्यां प्रवर्तते।
सुषुप्तौ नास्ति तन्नाशे तस्माद्बुद्धेस्तु नात्मनः ॥२२॥

अन्वयः—बुद्धौ सत्यां रागेच्छासुखदुःखादिः प्रवर्तते, यतः सुषुप्तौ तन्नाशे सति रागेच्छासुखदुःखादिः न अस्ति तस्मात् रागेच्छासुखदुःखादिः बुद्धेः अस्ति, न आत्मनः अस्ति ॥ २२ ॥

बुद्धि का होना जाग्रत् और स्वप्न अवस्था में ही कहा गया है इसलिये बुद्धि के रहने पर राग, द्वेष, इच्छा, सुख, दुःख आदि धर्म भी होते रहते हैं, परन्तु सुषुप्ति अवस्था में बुद्धि का नाश हो जाता है। इसलिये कारण रूप बुद्धि के नाश होने से कार्य रूप राग, द्वेष, इच्छा, सुख, दुःखादि का भी नाश हो जाता है। अर्थात् बुद्धि के होने पर रागादि का होना अन्वय हुआ और बुद्धि के नाश होने पर रागादि का नाश होना व्यतिरेक हुआ। अतः इस अन्वय व्यतिरेक से रागादि धर्म बुद्धि के ही हैं, वे आत्मा के नहीं हैं ॥ २२ ॥

(१) तत्सत्त्वे तत्सत्त्वमन्वयः। तदभावे तदभावः इति व्यतिरेकः। अर्थात् जहां उसके होने से उसका होना सम्भव होता है, वह अन्वय हुआ। और जहां उसके अभाव से उसका अभाव होना माना जाता है तो उसको व्यतिरेक कहते हैं।

अवतरण—उक्त श्लोक से राग द्वेष इच्छा सुख दुःख आदि धर्म बुद्धि के ही कहे गये। अब आत्मा का स्वभाव वर्णन करते हैं।

प्रकाशोऽर्कस्य तोयस्य शैत्यमग्नेर्यथोष्णता।
स्वभावः सच्चिदानन्दनित्यनिर्मलतात्मनः ॥२३॥

अन्वयः—यथा अर्कस्य प्रकाशः, तोयस्य शैत्यम्, अग्नेः उष्णता स्वभावः (वर्तते) तथा आत्मनः सच्चिदानन्दनित्यनिर्मलता स्वभावः (वर्तते) ॥ २३ ॥

जैसे सूर्य का प्रकाश स्वभाव है, जल का शैत्य स्वभाव है, और अग्नि का उष्णता स्वभाव है वैसे आत्मा का सत् चित् आनन्द नित्य निर्मलता स्वभाव है ॥ २३ ॥

अवतरण—ऊपर के श्लोक से आत्मा सत् चित् आनन्द और निर्मल स्वभाव कहा गया है परन्तु 'मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ' मैं इच्छा करता हूं, मैं राग करता हूं, मैं द्वेष करता हूं, इत्यादि प्रतीति से सुख दुःख इच्छा राग द्वेष आदि का आश्रय आत्मा होना चाहिये। उसको आपने सच्चिदानन्द नित्य निर्मल स्वभाव कैसे कहा?।

आत्मनः सच्चिदंशश्च बुद्धेर्वृत्तिरिति द्वयम्।
संयोज्य चाविवेकेन जानामीति प्रवर्तते ॥२४॥

अन्वयः—आत्मनः सच्चिदंशः बुद्धेः वृत्तिः च इति द्वयम् अविवेकेन संयोज्य जानामि इति प्रवर्तते ॥ २४ ॥

आत्मा का जो सत् चित् अंश है उसका प्रतिबि
और जो अज्ञान स्वरूप बुद्धि वृत्ति है उस बुद्धिवृत्ति
पड़ता है। इसीलिये इन दोनों को अविवेक (जबर्दस्ती)
मिलाकर 'मैं सुखी हूं, मैं दुखी हूं, मैं राग करता हूं, मैं प्रे
करता हूं, मैं द्वेष करता हूं' इत्यादि व्यवहार में जी
प्रवृत्त रहा करता है। वास्तव में आत्मा सुख दुःखा
धर्मों से रहित है क्योंकि सुखाकार वृत्ति बुद्धि का प
णाम माना गया है इस लिये सुख दुःख आदि का आश्र
बुद्धि है आत्मा नहीं है ॥ २४ ॥

अवतरण—आत्मा के सत् चित् आनन्द निर्मल स्वरू
का वर्णन करते हैं।

आत्मनो विक्रिया नास्ति बुद्धेर्बोधो न जात्विति
जीवः सर्वमलं ज्ञात्वा कर्ता द्रष्टेति मुह्यति ॥२

अन्वयः—आत्मनः विक्रिया न अस्ति, जातु बुद्धे
बोधः न अस्ति, इति जीवः सर्वमलं ज्ञात्वा कर्ता द्रष्टा इ
मुह्यति ॥ २५ ॥

आत्मा विकार रहित है क्योंकि श्रुति में भी लिखा
'निर्गुणं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्' अर्थात् आ
निर्गुण (गुणशून्य), निष्क्रिय (क्रिया रहित), शा
निरवद्य (पाप रहित) और निरञ्जन (निर्मल) है। गीता
भी लिखा है 'अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्य
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥ अ० २ श्लो० २

(अर्थात् इस आत्मा को ही अव्यक्त अर्थात् जो इन्द्रियों को गोचर नहीं हो सकता, अचिन्त्य अर्थात् जो मन से भी जाना नहीं जा सकता, और अविकार्य (जिसे किसी भी विकार की उपाधि नहीं है) कहते हैं। इसलिये उसे इस प्रकार का समझकर उसका शोक करना तुझे उचित नहीं है।) और बुद्धि में बोध (ज्ञान) नहीं है क्योंकि बुद्धि जड़ है, परन्तु अन्तःकरण में चेतन की चेतनता से प्रति-विम्बित होने पर समस्त देह इन्द्रिय आदि जड़ पदार्थ-चेतन रूप प्रतीत होते हैं। इससे अन्तःकरण और आत्मा के अभेद ज्ञान से ही बुद्धि के कर्ता भोक्ता आदि धर्म भ्रम से आत्मा में प्रतीत होते हैं। अतः जीव सब के मल को अर्थात् धर्म को अपने में जानकर ही 'मैं कर्ता हूं' और 'द्रष्टा हूं' इस तरह मोह को प्राप्त होता है॥ २५॥

अवतरण—ऊपर के श्लोक से आत्मा निर्गुण निष्क्रिय और अविकार्य है और बुद्धि जड़ है, अर्थात् ज्ञान रहित है। भ्रमवश दूसरे के धर्म का अपने में आरोप कर जीव मुग्ध होता है यह कहा। अब आत्मा में मिथ्या आरोपरूप अज्ञान के फल और तत्त्वज्ञान के फल को आगे के श्लोक से कहते हैं।

रज्जुसर्पवदात्मानं जीवं ज्ञात्वा भयं वहेत्।
नाहं जीवः परात्मेति ज्ञातं चेन्निर्भयो भवेत्॥२६॥

अन्वयः—मनुष्यः आत्मानं रज्जुसर्पवत् जीवं ज्ञात्वा भयं वहेत्। यदा अहं जीवः न किन्तु परमात्मा इति ज्ञातं चेत्तदा निर्भयः भवेत्॥ २६॥

जैसे मनुष्य अन्धेरे में पड़ी हुई रसरी को देखकर भ्रमवश सर्प समझकर भयभीत हो जाता है वैसे ही आत्मा को भी भ्रमवश जीव समझकर भयभीत होता है अर्थात् रज्जु में सर्प ज्ञान के बाद, होनेवाले भय कम्पादि के समान निर्गुण निष्क्रिय और अविकार्य आत्मा को जीव समझने से आत्मा में अनेक प्रकार के सुख दुःख प्रतीत होने लगते हैं और जन्म मरण रूप भय होता है जैसा कि वेद में लिखा है 'द्वितीयाद्वै भयं भवति, उदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति' न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः' अर्थात् पुरुषों को द्वितीय (द्वैत) ज्ञान से भय होता है। और जो किञ्चत् मात्र भेद करने वाला है उसको भय होता है अर्थात् सुख दुःख जन्म मरणादि भय होते हैं। और जो आत्मज्ञान से रहित है उसकी बहुत हानि होती है। स्मृतिकार भी लिखते हैं कि 'ईषदप्यन्तरं कृत्वा रौरवं नरकं व्रजेत् ।' अर्थात् आत्मा और जीव में किञ्चिन्मात्र भी अन्तर करनेवाला रौरव नरक को जाता है। और जब 'तत्त्वमसि' 'त्वमेवासि' वाक्यों के उपदेश से मैं जीव नहीं हूं किन्तु सत् चित् आनन्द स्वरूप हूँ ऐसा समझता है तब मनुष्य निर्भय हो जाता है। वेद में भी लिखा है 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' अर्थात् ब्रह्म को जाननेवाला ब्रह्म ही हो जाता है ॥ २६ ॥

अवतरण—जब आत्मा, बुद्धि मन आदि के समीप है तो चित्त अहंकार अन्तःकरण इन्द्रिय बुद्धि मन आदि उस समीपवर्ती आत्मा को क्यों देखते हैं ? ।

आत्मावभासयत्येको बुद्ध्यादीनीन्द्रियाणि च ।
दीपो घटादिवत्स्वात्मा जडैस्तैर्नावभास्यते ॥२७॥

अन्वयः—एकः आत्मा बुद्ध्यादीनि इन्द्रियाणि च दीपः घटादिवत् अवभासयति तैः जडैः बुद्ध्यादिभिः इन्द्रियैश्च स्वात्मा न अवभास्यते ॥ २७ ॥

आत्मा एक है अर्थात् असङ्ग है वह आत्मा जड़ स्वरूप मन बुद्धि चित्त अहंकार अन्तःकरण और इन्द्रियों को प्रकाशित करता है अर्थात् बुद्ध्यादिकों पर आत्मा का प्रकाश पड़ता है इसलिये जो जड़ पदार्थ बुद्ध्यादि हैं उनका प्रकाशक आत्मा होता है, परन्तु बुद्ध्यादि तथा इन्द्रिय आत्मा के प्रकाशक नहीं होते हैं क्योंकि आत्मा पर इन बुद्ध्यादि तथा इन्द्रिय का प्रकाश नहीं पड़ता है। जैसे दीपक का प्रकाश घटादि पदार्थों पर पड़ने से घटादि पदार्थों का प्रकाशक दीपक होता है परन्तु दीपक पर घटादि पदार्थों का प्रकाश नहीं पड़ता इसलिये घटादि पदार्थ दीपक के प्रकाशक नहीं होते हैं ॥ २७ ॥

अवतरण—ऊपर के श्लोक से जब यह सिद्ध हुआ कि आत्मा ही बुद्ध्यादिकों का प्रकाशक होता है, आत्मा का प्रकाशक बुद्ध्यादि नहीं होते हैं तो आत्मा का प्रकाशक कौन है अर्थात् आत्मा का प्रत्यक्ष कैसे होता है ?।

स्वबोधे नान्यबोधेच्छा बोधरूपतयात्मनः ।
न दीपस्यान्यदीपेच्छा यथा स्वात्मा प्रकाशते २७

अन्वयः—यथा दीपस्य अन्यदीपेच्छा न भवति तथा आत्मनः बोधरूपतया स्वबोधे अन्यबोधेच्छा न भवति, किन्तु स्वात्मा स्वयं प्रकाशते ॥ २८ ॥

अपनी आत्मा स्वयं प्रकाशित होती है इस आत्मा को दूसरे के प्रकाश की अपेक्षा नहीं है क्योंकि आत्मा स्वयं बोधरूप है इसलिये आत्मबोध में अर्थात् अपनी आत्मा के बोध में दूसरे के बोध की अपेक्षा नहीं है। जैसे दीपक के प्रकाश के लिये दूसरे दीपक की अपेक्षा नहीं होती है ॥ २८ ॥

अवतरण—जब आत्मा स्वयं प्रकाशित होता है अर्थात् आत्मा के साक्षात्कार में दूसरे प्रकाश की आवश्यकता नहीं है तो बिना यत्न के ही लोग मुक्त हो जायंगे तब श्रवण[1] मनन[2] निदिध्यासन[3] आदि जो मुक्ति के कारण[4] माने गये हैं वे व्यर्थ हो जायंगे।

---

(१) 'श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः। मत्वा च सततं ध्येय एते दर्शनहेतवः ॥ अर्थात् आत्मा वेदवचनों से श्रवण के योग्य है, और उपपत्तियों (युक्तियां) के द्वारा मनन के योग्य है, तथा मनन करके निरन्तर ध्यान के योग्य है। ये श्रवण मनन निदिध्यासन आत्मा के दर्शन में कारण माने गये हैं। श्रवणं नाम—वेदान्तानां अद्वितीये ब्रह्मणि तात्पर्यावधारणानुकूला मानसी क्रिया। अर्थात् वेदान्त वाक्यों का अद्वितीय (सजातीय विजातीय स्वगतभेद-शून्य) ब्रह्म में तात्पर्य के निश्चयानुकूल मानसी क्रिया को श्रवण कहते हैं।

(२) मननं नाम—शब्दावधारितेऽर्थे मानान्तरविरोधशङ्कायां तन्निराकरणानुकूलतर्कात्मकज्ञानजनकमानसव्यापारः। अर्थात् शब्द से निश्चित

निषिध्य निखिलोपाधीन्नेति नेतीति वाक्यतः।
विद्यादैक्यं महावाक्यैर्जीवात्मपरमात्मनोः ॥२६॥

अन्वयः-नेति नेति वाक्यतः निखिलोपाधीन् निषिध्य महावाक्यैः जीवात्मपरमात्मनोः ऐक्यं विद्यात् ॥२६॥

नेति नेति इस वाक्य से समस्त उपाधियों का निषेध करके 'तत्त्वमसि' 'अयमात्मा ब्रह्म' 'प्रज्ञानं ब्रह्म' 'अहं ब्रह्माऽस्मि' आदि महावाक्यों से जीवात्मा और परमात्मा की एकता को जाने। अर्थात् 'स एष आदेशो नेति नेतीत्येवन्निरसनम्' इस व्यास के कथित सूत्र के अनुसार प्रथम यह समझे कि 'अन्नं ब्रह्म' अर्थात् क्या अन्न ब्रह्म है? तो नेति पद से उसका निषेध करे अर्थात् अन्न ब्रह्म नहीं है। 'प्राणाः ब्रह्म' अर्थात् क्या प्राण ब्रह्म है? तो नेति पद से उसका भी निषेध करे अर्थात् प्राण ब्रह्म नहीं है। इसी तरह 'देहाः ब्रह्म' अर्थात् क्या देह ब्रह्म

अर्थ में प्रमाणान्तरों के विरोध की आशङ्का आने पर उसके निराकरण के अनुकूल तर्करूप ज्ञानजनक मानस व्यापार को मनन कहते हैं।

(३) निदिध्यासनं नाम—अनादिदुर्वासनया विषयेष्वाकृष्यमाणस्य चित्तस्य विषयेभ्योऽपकृष्यात्मविषयकस्थैर्यानुकूलो मानसव्यापारः। अर्थात् अनादिकालिक दुर्वासना से विषयों में खींचे जाते हुए चित्त को विषयों से हटाकर आत्मविषयक स्थैर्यानुकूल मानस व्यापार को निदिध्यासन कहते हैं।

(४) ब्रह्म के साक्षात्कार (प्रत्यक्ष) में निदिध्यासन साक्षात् कारण है और निदिध्यासन में मनन कारण है तथा मनन में श्रवण कारण है।

है ? तो नेति वाक्य से उसका निषेध करे अर्थात् देह भी ब्रह्म नहीं है। इस प्रकार ब्रह्म (आत्मा) से जो भिन्न है उसका त्याग करे अर्थात् आत्मा से भिन्न पदार्थों को जड़ और अनित्य समझे और जब इस प्रकार स्थूल सूक्ष्म कार्य कारण-रूप नामरूपात्मक जगत् का अनित्य ज्ञान हो जाय तब 'तत्त्वमसि' 'अयमात्मा ब्रह्म' 'प्रज्ञानं ब्रह्म' 'अहं ब्रह्माऽस्मि' अर्थात् वह ब्रह्म तू है, यह जीवात्मा ब्रह्म है, प्रज्ञान ब्रह्म है, मैं ब्रह्म हूं, इन महावाक्यों से जीवात्मा और परमात्मा की एकता को जाने। उस एकताज्ञान को ही मुक्ति का कारण कहते हैं। अब एकताज्ञान[1] का प्रकार कहते हैं। 'समान-विभक्त्यन्तोपस्थाप्ययोरर्थयोरभेदान्वयः' अर्थात् समान विभक्त्यन्तोपस्थाप्य अर्थों का अभेदान्वय होता है। इस नियम से 'तत्त्वमसि' यहां 'तत्' पद और 'त्वं' पद समान विभक्त्यन्तोपस्थाप्य चैतन्यार्थ के बोधक होने से परस्पर इनका अभेदान्वय होता है। उस पर सन्देह करते हैं कि 'तत्त्वमसि' यहां पर 'तत्' पदार्थ सर्वज्ञत्व विशिष्ट चैतन्य है

(१) अथ महावाक्यार्थो वर्ण्यते। इदं[1] तत्त्वमसिवाक्यं सम्बन्धत्रयेणाखण्डार्थबोधकं भवति। सम्बन्धत्रयं नाम पदयोः सामानाधिकरण्यं पदार्थयोर्विशेषणविशेष्यभावः प्रत्यगात्मलक्षणयोर्लक्ष्यलक्षणभावश्चेति।

(१) ननु जीवेश्वरयोः किञ्चिज्ज्ञत्वसर्वज्ञत्वादिविशिष्टयोरत्यन्त-विलक्षणयोस्तत्त्वमस्यादिमहावाक्यानि परस्परविरुद्धार्थप्रतिपादकानि कथमखण्डैकरसं ब्रह्म प्रतिपादयन्तीत्याशंक्य साक्षादैक्यप्रतिपादकत्वा-भावेऽपि लक्षणया सम्बन्धत्रयेणाखण्डैकार्थप्रतिपादयन्तीत्याह–इदमिति।

हो। जैसे सुवर्ण के कुण्डलादि भूषण बनने पर उस भूषण के नाम रूप का बाध करके सामान्य सुवर्ण के साथ अभेद होता है। और भी उदाहरण इसके हैं जहां दो पदों का परस्पर भेद हो किन्तु अर्थ एक हो। जैसे घट और कुम्भ शब्द। शब्द भेद होने पर भी दोनों का अर्थ एक ही है। अथवा 'सोऽयं देवदत्तः' (यः काश्यां दृष्टः) अर्थात् यह वही देवदत्त है (जिसको काशी में देखा था) इस वाक्य में सः, अयं, देवदत्तः, ये तीन पद हैं सः पद परोक्ष देश और काल का बोधक है और अयं पद वर्तमान देश और काल का बोधक है। इन दोनों पदों का देश कालरूप जो भिन्न २ अर्थ हैं उनका त्याग कर सामान्यार्थ बोधक दोनों पदों का सम्बन्ध एक देवदत्त में ही होता है इसलिये इसको बाध-सामानाधिकरण्य सम्बन्ध कहते हैं। इसी तरह 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों में तत् पद का वाच्य अर्थ परोक्ष आदि और 'त्वं' पदार्थ अल्पज्ञत्वविशिष्ट चैतन्य है। जब परस्पर विरुद्ध अर्थ के प्रतिपादक तत् त्वं पद हैं तो दोनों अखण्ड

तदुक्तम्। "सामानाधिकरण्यं च विशेषणविशेष्यता॥ लक्ष्य-लक्षणसम्बन्धः पदार्थप्रत्यगात्मनाम्" ॥ इति ॥ सामानाधिकरण्य-सम्बन्धस्तावद्यथा सोऽयं देवदत्त इत्यस्मिन् वाक्ये तत्कालविशिष्ट-देवदत्तवाचकसशब्दस्यैतत्कालविशिष्टदेवदत्तवाचकायंशब्दस्य चैकस्मिन् पिण्डे तात्पर्यसम्बन्धः। तथा च तत्त्वमसीति वाक्येऽपि परोक्षत्वा-दिविशिष्टचैतन्यवाचकतत्पदस्यापरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यवाचकत्वम्पदस्य चैकस्मिन्नचैतन्ये तात्पर्यसम्बन्धः। विशेषणविशेष्यभावसम्बन्धस्तु यथा तत्रैव वाक्ये स शब्दार्थतत्कालविशिष्टदेवदत्तस्यायंशब्दार्थैतत्कालविशिष्ट-देवदत्तस्य चान्योन्यभेदव्यावर्तकतया विशेषणविशेष्यभावः। तथात्रापि

और एक रस ब्रह्म के प्रतिपादक कैसे हो सकते हैं। उसका उत्तर करते हैं कि साक्षात् ऐक्य प्रतिपादक न होने पर भी लक्षणा और सम्बन्धत्रय से प्रतिपादक हैं। वह सम्बन्ध तीन प्रकार के हैं—सामानाधिकरण्य, विशेषणविशेष्यभाव और लक्ष्यलक्षणभाव, इन तीनों में सामानाधिकरण्य सम्बन्ध दो प्रकार का है। एक मुख्यसामानाधिकरण्य और दूसरा बाधसामानाधिकरण्य। मुख्यसामाधिकरण्य सम्बन्ध उसको कहते हैं कि जहां एक वस्तु का एक वस्तु के साथ अभेद हो। जैसे सुवर्ण का और सुवर्ण के बने हुये आभूषणों का। और बाधसामानाधिकरण्य सम्बन्ध उसको कहते हैं कि, जहां एक वस्तु का एक वस्तु के साथ बाध करके सम्बन्ध विशेषणविशिष्ट चैतन्य हैं 'त्वं' पद का वाच्य अर्थ अपरोक्ष आदि विशेषणविशिष्ट चैतन्य है। यहाँ दोनों पदों के वाच्यार्थ में विशेषणांश त्याग कर 'असि' पद में सामान्यार्थ बोधकतया सम्बन्ध को सामानाधिकरण्य सम्बन्ध कहते हैं। और दूसरा विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध है जैसे 'सोऽयं देवदत्तः' अर्थात् यह वही देवदत्त है यहाँ देवदत्त विशेष्य पद है और सः अयं ये दो विशेषण पद हैं। ये दोनों पद स्व स्व देश और

वाक्ये तत्पदार्थपरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यस्य त्वम्पदार्थापरोक्षत्वादि-विशिष्टचैतन्यस्य चान्योन्यभेदव्यावर्तकतया विशेषणविशेष्यभावः। लक्ष्यलक्षणसम्बन्धस्तु यथा तत्रैव सशब्दायंशब्दयोस्तदर्थयोर्वा विरुद्ध-तत्कालैतत्कालविशिष्टत्वपरित्यागेनाविरुद्धदेवदत्तेन सह लक्ष्यलक्षणभावः। तथात्रापि वाक्ये तत्त्वम्पदयोस्तदर्थयोर्वा विरुद्धपरोक्षत्वापरोक्षत्वादि-विशिष्टत्वपरित्यागेनाविरुद्धचैतन्येन सह लक्ष्यलक्षणभावः। इयमेव भागलक्षणेत्युच्यते ॥ २६ ॥

कालरूप अर्थ को त्याग कर देवदत्त के स्वरूप के बोधक होते हैं। इसी तरह 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों में भी 'तत्' पद का अर्थ परोक्ष आदि विशेषण सहित चेतन और 'त्वं' पद का अर्थ अपरोक्ष आदि विशेषण सहित चेतन है इनमें दोनों विशेषणों का त्याग कर दोनों का 'असि' पद में सामानाधिकरण्य होता है इसलिये विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध है। तीसरा लक्ष्यलक्षणभाव सम्बन्ध है—जैसे 'सोऽयं देवदत्तः' यहां 'सः' 'अयं' इन दोनों पदों के विशेषणांश के त्यागने पर केवल देवदत्त मात्र लक्षित होता है। इसी तरह 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्यों में भी 'तत्' पद का अर्थ अद्वितीय परोक्ष व्यापक चेतन है और 'त्वं' पद का अर्थ सद्वितीय अपरोक्ष परिच्छिन्न चेतन है। इन विरुद्ध धर्मों को छोड़ कर एक चेतन जो विरुद्ध धर्म से रहित लक्ष्य अर्थ है वह लक्षित होता है और इन पूर्वोक्त सम्बन्धों के द्वारा लक्षणा से जीव और ब्रह्म की एकता सिद्ध होती है। यह लक्षणा

अस्मिन्वाक्ये नीलमुत्पलमिति वाक्यवद्वाक्यार्थो न सङ्गच्छते। तत्र तु नीलपदार्थनीलगुणस्योत्पलपदार्थोत्पलद्रव्यस्य च शौक्ल्यपटादिभेदव्यावर्तकतया ऽन्योन्यविशेषणविशेष्यभावसंसर्गस्यान्यतरविशिष्टस्यान्यतरस्य तदैक्यस्य वा वाक्यार्थत्वांगीकारे प्रमाणान्तरविरोधाभावात्तद्वाक्यार्थः संगच्छते। अत्र तु तदर्थपरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यस्य त्वमर्थापरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यस्य चान्योन्यभेदव्यावर्तकतया विशेषणविशेष्यभावसंसर्गस्यान्यतरविशिष्टस्यान्यतरस्य तदैक्यस्य च वाक्यार्थत्वांगीकारे प्रत्यक्षादिप्रमाणविरोधाद्वाक्यार्थो न संगच्छते। तदुक्तम्। "संसर्गो वा विशिष्टो वा वाक्यार्थो नात्र सम्मतः॥ अखण्डैकरसत्वेन वाक्यार्थो विदुषां मतः" ॥ इति ॥ २४ ॥

तीन प्रकार की है—(१) जहल्लक्षणा, (२) अजहल्लक्षणा, (३) जहदजहल्लक्षणा। 'यस्यां लक्षणायां शक्यार्थत्यागः, सा जहल्लक्षणा' अर्थात् जिस लक्षणा में शक्त्या बोध्य अर्थ का त्याग हो उसे जहल्लक्षणा कहते हैं। यथा—'गङ्गायां घोषः' अर्थात् जैसे गङ्गा में घोष (अहीरों की बस्ती)। यहां गङ्गा का भगीरथ-रथखाताचच्छिन्न-जलप्रवाह रूप जो वाच्य (मुख्य) अर्थ है उसमें घोष का होना असम्भव है अर्थात् प्रवाह में घोष असम्भावित होने से गङ्गा पद के वाच्यार्थ का त्याग कर गङ्गा पद का तीर में लक्षणा की जाती है। यहां गङ्गा पद के सम्पूर्ण वाच्य अर्थ का त्याग है इसलिये इसको जहल्लक्षणा कहते हैं। और 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों में 'तत्' 'त्वं' दोनों पदों का चैतन्य रूप एक अर्थ है परन्तु उसका त्याग नहीं है इसलिये जहल्लक्षणा नहीं हो सकती है। अब अजहल्लक्षणा को कहते हैं—

यत्र गंगायां घोषः प्रतिवसतीतिवाक्यवज्जहल्लक्षणापि न संगच्छते। तत्र तु गंगाघोषयोराधाराधेयभावलक्षणस्य वाक्यार्थस्या-शेषतो विरुद्धत्वाद्वाक्यार्थमशेषतः परित्यज्य तत्सम्बन्धितीरलक्षणाया युक्तत्वाज्जहल्लक्षणा संगच्छते। अत्र तु परोक्षापरोक्षचैतन्यैकत्वलक्षणस्य वाक्यार्थस्य भागमात्रे विरोधाद्भागान्तरमपि परित्यज्यान्यलक्षणया अयु-क्तत्वाज्जहल्लक्षणा न सङ्गच्छते। न च गंगापदं स्वार्थपरित्यागेन तीरपदार्थं यथा लक्षयति तथा तत्पदं त्वम्पदं वा स्वार्थपरित्यागेन त्वम्पदार्थं तत्पदार्थं वा लक्षयत्वतः कुतो जहल्लक्षणा न संगच्छत इति वाच्यम्। तत्र तीरपदाश्रवणेन तदर्थाप्रतीतौ लक्षणया तत्प्रतीत्यपेक्षाया-मपि तत्त्वम्पदयोः श्रूयमाणत्वेन तदर्थप्रतीतौ लक्षणया पुनरन्यतरपदेनान्य-तरपदार्थप्रतीत्यपेक्षाभावात्॥ २१॥

'यस्यां लक्षणायां स्वार्थसंवलितलक्ष्यार्थबोधः सा अजहल्लक्षणा' अर्थात् जिस लक्षणा में स्वार्थयुक्त लक्ष्य अर्थ का बोध हो उसे अजहल्लक्षणा कहते हैं। यथा—'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' अर्थात् जैसे—काकों से दही रक्षा की जाय। यहां काक पद देने से दूसरों से रक्षा असम्भावित है इसलिये काक पद की दध्युपघातक में लक्षणा की गई। अर्थात् दध्युपघातकों से रक्षा की जाय। दूसरा उदाहरण—'शोणो धावति' अर्थात् शोण (लाल रङ्ग) दौड़ता है। यहां लाल रङ्ग में दौड़ना असम्भव है इसलिये शोण पद की शोण अश्व में लक्षणा है। यहां स्वार्थ शोण का त्याग नहीं है किन्तु तद्युक्त अश्व का बोधक है इसलिये इसको अजहल्लक्षणा कहते हैं। और 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों में अजहल्लक्षणा नहीं हो सकती, क्योंकि उनमें सम्पूर्ण वाच्य अर्थ का ग्रहण नहीं है। और जहदजहल्लक्षणा उसको कहते

अत्र शोणो धावतीतिवाक्यवदजहल्लक्षणापि न सम्भवति। तत्र शोणगुणगमनलक्षणस्य वाक्यार्थस्य विरुद्धत्वात्तदपरित्यागेन तदाश्रयाश्वादिलक्षणया तद्विरोधपरिहारसम्भवादजहल्लक्षणा सम्भवति। अत्र तु परोक्षत्वापरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यैकत्वस्य वाक्यार्थस्य विरुद्धत्वात्तदपरित्यागेन तत्सम्बन्धिनो यस्यकस्यचिदर्थस्य लक्षितत्वेऽपि तद्विरोधपरिहारासम्भवादजहल्लक्षणा न सम्भवत्येव। न च तत्पदं त्वम्पदं वा स्वार्थविरुद्धांशपरित्यागेनांशान्तरसहितं त्वम्पदार्थं तत्पदार्थं वा लक्षयत्वतः कथं प्रकारान्तरेण भागलक्षणाङ्गीकरणमिति वाच्यम्। एकेन पदेन स्वार्थांशपदार्थान्तरोभयलक्षणाया असम्भवात्पदान्तरेण तदर्थप्रतीतौ लक्षणया पुनस्तत्प्रतीत्यपेक्षाभावाच्च ॥ २६ ॥

हैं—'यस्यां लक्षणायां कस्यचिदंशस्य त्यागः कस्यचिदंशस्योपादानं सा जहदजहल्लक्षणा' अर्थात् जिस लक्षणा में किसी अंश का त्याग और किसी अंश का उपादान (ग्रहण) हो उसको जहदजहल्लक्षणा कहते हैं। यथा—'सोऽयं देवदत्तः' अर्थात् वही यह देवदत्त है । यहां देश काल पुष्ट कृश आदि विशेषणों का त्याग कर पिण्डमात्र देवदत्त का ग्रहण होता है । इसी तरह 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों में समष्टि, व्यष्टि, स्थूल, सूक्ष्म आदि विरुद्ध अंशों का त्याग कर व्यापक अखण्ड चैतन्यमात्र का जहदजहल्लक्षणा से बोध होता है। इसको पौराणिक भागत्यागलक्षणा शब्द से कहते हैं। [तात्पर्य यह हुआ कि—अविद्या तथा माया दो माने जाते हैं। अर्थात् जीवोपाधि अविद्या कही जाती है और ईश्वरोपाधि माया कही जाती है। अविद्या में चैतन्य का प्रतिबिम्ब पडने से जीव तथा माया में चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ने से ईश्वर कहा गया है । अर्थात् अविद्या का जीव के साथ सम्बन्ध है और माया का ईश्वर के साथ सम्बन्ध है। यहां ईश्वर पद से ब्रह्मा विष्णु महेश्वर लिये गये हैं अर्थात् इन्हीं तीन का सम्बन्ध माया के साथ है इसलिये माया के गुण जो सत्त्व रज और तम हैं इन तीन गुणों के साथ सम्बन्ध होने से ब्रह्मा

तस्माद्यथा सोऽयं देवदत्त इति वाक्यं तदर्थो वा तत्कालैतत्कालविशिष्टदेवदत्तलक्षणस्य वाक्यार्थस्यांशे विरोधाद्विरुद्धतत्कालैतत्कालविशिष्टांशं परित्यज्याविरुद्धं देवदत्तांशमात्रं लक्षयति तथा तत्त्वमसीतिवाक्यं तदर्थो वा परोक्षत्वापरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यैकत्वलक्षणस्य वाक्यार्थस्यांशे विरोधाद्विरुद्धपरोक्षत्वापरोक्षत्वविशिष्टांशं परित्यज्याविरुद्धमखण्डचैतन्यमात्रं लक्षयतीति ॥ २७ ॥

रजोगुणी, विष्णु सतोगुणी और महेश्वर तमोगुणी कहे जाते हैं। इन तीन देवों से परे जो तुरीय है उसको वैष्णव लोग कृष्ण कहते हैं और शैव लोग शिव शब्द से व्यवहार करते हैं। जो तुरीय कृष्ण कहे जाते हैं उनके प्रतिबिम्ब ब्रह्मा विष्णु महेश हैं अर्थात् बिम्बस्थानपन्न जो तुरीय कृष्ण हैं वे माया में प्रतिबिम्बित होने से माया के गुण सत्त्व रज तम का सम्बन्ध भी प्रतिबिम्बित (ब्रह्मा विष्णु महेश) के साथ ही हुआ करता है और जो तुरीय कृष्ण हैं उनके साथ नहीं होता है। जैसे मायास्थानापन्न दर्पण में दर्पणनिष्ठ दोषों का सम्बन्ध प्रतिबिम्बित पदार्थों के साथ ही होता है, बिम्ब के साथ नहीं होता। अर्थात् सीसा में मनुष्य की परछाईं पड़ने से सीसा के मालिन्यादि दोषों का असर परछाईं पर होता है इसलिये परछाईं सीसा के दोषों से युक्त होती है। मनुष्य पर सीसा के दोषों का असर नहीं होता है अर्थात् जैसे सीसा के मलीन होने से मनुष्य मलीन नहीं हो जाता इसी तरह माया के गुण सत्त्व रज तम का सम्बन्ध बिम्बस्थानापन्न तुरीय जो कृष्ण हैं उनके साथ नहीं है। अत एव वे कृष्ण शुद्ध अद्वितीय अखण्ड ब्रह्म हैं॥ २८॥

अवतरण—जब कि आत्मा असङ्ग है तो इस आत्मा के उपाधिभूत जो समष्टि व्यष्टि स्थूल सूक्ष्म आदि धर्म हैं उन धर्मों का त्याग न किया जाय, और बिना त्याग के ही अखण्ड सत् चित् आनन्द स्वरूप आत्मा का ज्ञान क्यों न हो जाय?।

आविद्यकं शरीरादि दृश्यं बुद्बुदवत्क्षरम्।
एतद्विलक्षणं विन्द्यादहं ब्रह्मेति निर्मलम्॥३०॥

अन्वयः—अविद्यकं दृश्यं शरीरादि बुद्बुदवत् क्षरं अस्ति, एतद्विलक्षणं अहं ब्रह्म इति निर्मलं विन्द्यात् ॥ ३० ॥

अज्ञान से कल्पित जो शरीर घट पट मठादि जितने जगत् के दृश्य पदार्थ हैं वे जल के बुल्ला के समान नाशवान् हैं, और इन दृश्य शरीरादि पदार्थों से विलक्षण अर्थात् सत् चित् आनन्द नित्य निर्मल और अपने जीवात्मा को मैं ब्रह्म हूँ अर्थात् उपाधिभूत समष्टि व्यष्टि स्थूल सूक्ष्म आदि धर्मों से रहित मैं ब्रह्म हूं ऐसा समझे ॥ ३० ॥

अवतरण—जीव और ब्रह्म में ऐक्य (अभेद) के मनन का प्रकार कहते हैं।

देहान्यत्वान्न मे जन्मजराकार्श्यलयादयः ।
शब्दादिविषयैः सङ्गो निरिन्द्रियतया न च ॥ ३१॥

अन्वयः—देहान्यत्वात् मे जन्मजराकार्श्यलयादयः न सन्ति, निरिन्द्रियतया शब्दादिविषयैः सङ्गश्च न अस्ति ॥ ३१ ॥

मैं पुष्ट कृश स्थूल सूक्ष्म रूप शरीर से भिन्न हूँ, इसलिये जन्म बाल युवा जरा पुष्ट कृश स्थूल सूक्ष्म मरण क्षुधा तृषा आदि जो शरीर के धर्म हैं वे ब्रह्मरूप मुझमें नहीं हैं और मैं निरिन्द्रिय (इन्द्रियों से रहित) हूँ इसलिये रूप रस गन्ध स्पर्श शब्दादि विषयों के साथ मेरा सम्बन्ध भी नहीं है। अर्थात् मैं विकाररहित सत् चित् आनन्द रूप और अखण्ड शुद्ध चैतन्य रूप हूं ॥ ३१ ॥

अवतरण—दुःख सुख राग द्वेष भय संकल्प विकल्प मोह शोक आदि जो मन के धर्म हैं वे आत्मा में नहीं होते।

अमनस्त्वान्न मे दुःखरागद्वेषभयादयः।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्र इत्यादि श्रुतिशासनात् ३२॥

अन्वयः—अप्राणः हि अमनाः शुभ्रः इत्यादि श्रुतिशासनात् अमनस्त्वात् मे दुःखरागद्वेषभयादयः न सन्ति ॥ ३२ ॥

मैं अप्राण हूं अर्थात् मैं प्राणों से भिन्न हूं, मैं अमना हूँ अर्थात् मैं मन से भिन्न हूँ, मैं शुभ्र हूं अर्थात् मैं अविद्या के मलों से रहित शुद्ध चैतन्य रूप हूं इत्यादि श्रुति (वेद) के शासन (आज्ञा) से मैं मन से भिन्न हूं अर्थात् मन के धर्म जो सुख दुःख राग द्वेष संकल्प विकल्प भय शोक मोह आदि हैं वे मुझ में नहीं हैं, मैं अप्राण हूं अर्थात् प्राण के धर्म जो क्षुधा तृषा आदि हैं वे मुझ में नहीं हैं, मैं शुद्ध चैतन्य रूप हूँ ॥ ३२ ॥

अवतरण—प्राण मन समस्त इन्द्रिय आदि ब्रह्म से उत्पन्न हैं और वे अनित्य हैं।

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।
खं वायुर्ज्योतिरापश्च पृथ्वी विश्वस्य धारिणी ॥३३॥

अन्वयः—प्राणः मनः सर्वेन्द्रियाणि च खं वायुः ज्योतिः आपः विश्वस्य धारिणी पृथ्वी च एतस्मात् ब्रह्मणः सकाशात् जायते ॥ ३३ ॥

प्राण, मन, समस्त इन्द्रिय, आकाश, वायु, अग्नि, जल, और चराचर जगत् को धारण करने वाली पृथिवी ये सब प्रपञ्चजात अविद्या के द्वारा उसी ब्रह्म से उत्पन्न होते हैं ॥३३॥

अवतरण—आत्मा गुण क्रिया सङ्कल्प विकल्पादि से रहित है।

निर्गुणो निष्क्रियो नित्यो निर्विकल्पो निरञ्जनः।
निर्विकारो निराकारो नित्यमुक्तोऽस्मि निर्मलः ३४

अन्वयः—अहं निर्गुणः निष्क्रियः नित्यः निर्विकल्पः निरञ्जनः निर्विकारः निराकारः नित्यमुक्तः निर्मलः अस्मि ॥ ३४ ॥

मैं निर्गुण हूं अर्थात् सत्त्व रज तम गुणों से तथा गुणों के कार्य जो बुद्धि राग द्वेष इच्छा आदि हैं उनसे भिन्न हूं और मैं निष्क्रिय हूं अर्थात् देह और क्रिया से रहित हूं तथा मैं नित्य हूं अर्थात् सर्वदा अखण्ड शुद्ध चैतन्य रूप हूं और मैं निर्विकल्प हूं अर्थात् सङ्कल्प विकल्प जो मन के धर्म हैं उनसे रहित हूं, तथा मैं निरञ्जन हूं अर्थात् माया का कार्य जो संसार रूपी मल है उससे भिन्न हूं, और मैं निर्विकार हूं अर्थात् उपचय और अपचय से रहित हूं, तथा मैं निराकार हूं, अर्थात् निरवयव हूं, और मैं नित्यमुक्त हूं अर्थात् अज्ञान से कल्पित जो मोह आदि बन्धन हैं उनसे रहित हूं, तथा मैं निर्मल हूं अर्थात् अज्ञान से कल्पित अविद्या रूप माया के बन्धन से रहित हूं, इस प्रकार अपने में भावना द्वारा स्थिर संस्कार होने पर प्राणी जीवन मुक्त हो जाता है ॥ ३४ ॥

अवतरण—उक्त श्लोक से आत्मा को निर्गुण निष्क्रिय आदि कहा परन्तु आत्मा देहवान् प्रतीत होता है अतः आत्मा को परिच्छिन्न होना पड़ेगा सो कहना ठीक नहीं है। क्योंकि—

अहमाकाशवत्सर्वंबहिरन्तर्गतोऽच्युतः।
सदा सर्वसमः शुद्धो निःसङ्गो निर्मलोऽचलः॥३५॥

अन्वयः—अहं सदा आकाशवत् सर्वबहिरन्तर्गतः अच्युतः सर्वसमः शुद्धः निःसङ्गः निर्मलः अचलः अस्मि ॥ ३५ ॥

मैं हमेशा आकाश के समान समस्त जड़ दृश्य पदार्थों के भीतर और बाहर व्याप्त हूं अर्थात् सब में रह कर भी उनसे पृथक् चेतन रूप हूं। यदि यह कहो कि जड़ पदार्थों में रहने से आत्मा का रहना जड़ पदार्थों के नष्ट होने पर आत्मा का भी नाश हो जायगा सो नहीं कह सकते हैं क्यों कि मैं अच्युत हूँ अर्थात् समस्त माया-कल्पित जगत् के नाश होने पर मेरा नाश नहीं होता क्योंकि मैं अधिष्ठान रूप हूं। यदि यह कहो कि अधिष्ठान रूप आत्मा सत्य अविनाशी है परन्तु अन्तःकरण में आपकी सत्ता और चेतनता दोनों प्रतीत होती है और घट पटादि पदार्थों में केवल सत्ता की ही प्रतीति होती है इससे आत्मा में विषमता होने लगेगी सो कहना ठीक नहीं है क्योंकि मैं सदा सब पदार्थों में सम हूं। और सत्त्वगुण के कार्य होने से स्वच्छ अन्तःकरण में सत्ता और चेतनता दोनों प्रतीत होते हैं तथा तमोगुण के कार्य होने से मलीन घट पटादि में सत्ता-

मात्र की प्रतीति होती है इसमें आत्मा का कोई दोष नहीं है। और मैं शुद्ध हूं अर्थात् पुण्य पाप से रहित हूँ, तथा मैं निःसङ्ग हूं अर्थात् समस्त सम्बन्धों से रहित हूं, और मैं निर्मल हूँ अर्थात् सङ्कल्प विकल्पादि मलों से रहित हूं तथा मैं अचल हूं अर्थात् सत् चित् आनन्दरूप धर्मों से चलायमान नहीं होता हूं ॥ ३५ ॥

अवतरण—'तत्त्वमसि' महावाक्य में त्वं पदार्थ जीवात्मा का स्वरूप वर्णन करता है और तत्पदार्थ परमात्मा का स्वरूप वर्णन करता है न च इन दोनों पदों से ऐक्य प्रतिपादन को कहते हैं।

नित्यशुद्धविमुक्तैकमखण्डानन्दमद्वयम् ।
सत्यं ज्ञानमनन्तं यत्परं ब्रह्माहमेव तत् ॥ ३६ ॥

अन्वयः—यत् नित्यशुद्धविमुक्तैकं अखण्डानन्दं अद्वयं सत्यं ज्ञानं अनन्तं परं ब्रह्म अस्ति तत् अहं एव अस्मि ॥ ३६ ॥

जो नित्य अर्थात् भूत भविष्यत् वर्तमान काल में रहने वाला है और शुद्ध अर्थात् अविद्या आदि मलों से रहित है, तथा विमुक्त अर्थात् संसार से विरक्त है, और एक है अर्थात् सजातीय भेद शून्य है, तथा अखण्ड अर्थात् देश काल परिच्छेद शून्य है और आनन्द स्वरूप है तथा अद्वितीय अर्थात् विजातीय और स्वगत भेद शून्य है और सत्य ज्ञान अनन्त रूप परब्रह्म है वह मैं ही हूं। 'सत्यं ज्ञानानन्तं ब्रह्म' अर्थात् मैं सत्य ज्ञान अनन्त ब्रह्म हूं ऐसा वेद में भी लिखा है ॥ ३६ ॥

अवतरण—उक्त श्लोक से जीव और ब्रह्म के ऐक्य ज्ञान का प्रकार बतलाया। अब उस ऐक्य ज्ञान को अभ्यास के द्वारा दृढ़ करे और दृढ़ होने पर जीव ब्रह्म के ऐक्य ज्ञान से उत्पन्न विद्या उसी क्षण में अविद्या को और अविद्या से उत्पन्न जन्म मृत्यु सुख दुःख भय शोक आदि रूप संसार को नष्ट कर देती है।

एवं निरन्तराभ्यस्ता ब्रह्मैवास्मीति वासना।
हरत्यविद्याविक्षेपान् रोगानिव रसायनम् ॥३७॥

अन्वयः—एवं 'अहं ब्रह्म एव अस्मि' इति निरन्तराभ्यस्ता वासना रसायनं रोगान् इव अविद्याविक्षेपान् हरति ॥ ३७ ॥

इस प्रकार 'मैं ब्रह्म ही हूँ' इसके निरन्तर अभ्यास के होने से उत्पन्न हुई वासना (दृढ़ संस्कार) रोगों को रसायन के समान अविद्या से उत्पन्न होने वाले चित्त-विक्षेप को अर्थात् जीव और ब्रह्म के भेद ज्ञान को नष्ट कर देती है ॥ ३७ ॥

अवतरण—उक्त श्लोक से ऐक्य ज्ञान का प्रयोजन बतलाया अब ऐक्य ज्ञान में साधन को बतलाते हैं।

विविक्तदेश आसीनो विरागो विजितेन्द्रियः।
भावयेदेकमात्मानं तमनन्तमनन्यधीः ॥ ३८ ॥

अन्वयः—यः पुरुषः विविक्तदेशे आसीनः विरागः विजितेन्द्रियः अनन्यधीः अस्ति तं एकं अनन्तं आत्मानं भावयेत् ॥ ३८ ॥

जो पुरुष एकान्त तथा पवित्र स्थान में बैठकर और विराग अर्थात् रूप रस गन्ध स्पर्श शब्दादि विषयों से रहित होकर तथा जितेन्द्रिय अर्थात् इन्द्रियों को वश में करके और अनन्यधीः अर्थात् ब्रह्म में निश्चल बुद्धि होकर याने मैं ब्रह्म से भिन्न नहीं हूँ ऐसा समझ कर एक और अनन्त अर्थात् देश काल के परिच्छेद से रहित आत्मा है ऐसी भावना करे। इस प्रकार चिन्तन करने से ऐक्य ज्ञान दृढ हो जाता है ॥ ३८ ॥

अवतरण—जब प्रत्यक्ष रूप से व्यवहार दशा में प्रपञ्च जात वर्तमान है तो ऐक्य ज्ञान की भावना कैसे हो सकती है ? ।

आत्मन्येवाखिलं दृश्यं प्रविलाप्य धिया सुधीः।
भावयेदेकमात्मानं निर्मलाकाशवत् सदा ॥३९॥

अन्वयः—सुधीः धिया अखिलं दृश्यं आत्मनि एव प्रविलाप्य निर्मलाकाशवत् आत्मानं सदा एकं भावयेत् ॥३९॥

सुधी अर्थात् शुद्ध अन्तःकरण वाला पुरुष बुद्धि से समस्त दृश्य प्रपञ्चजात को अपनी आत्मा में लय करके अर्थात् आत्मा में कथन मात्र जो विकार है उसको दूर करके पृथ्वी को जल में, जल को तेज में, तेज को वायु में और वायु को आकाश में लीन करे तथा आकाश को मूल प्रकृति (माया) में और मूल प्रकृति (माया) को शुद्ध ब्रह्म में लीन करे बाद निर्मल आकाश के समान आत्मा को सदा एक (अखण्ड) अर्थात् अद्वितीय चिन्तन करे ॥ ३९ ॥

अवतरण—समस्त दृश्य प्रपञ्चजात का त्याग कर समाधि में स्थित मुमुक्षु जन का स्वरूप वर्णन करते हैं।

नामवर्णादिकं सर्वं विहाय परमार्थवित्।
परिपूर्णचिदानन्दस्वरूपेणावतिष्ठते ॥ ४० ॥

अन्वयः—परमार्थवित् पुरुषः सर्वं नामवर्णादिकं विहाय परिपूर्णचिदानन्दस्वरूपेण अवतिष्ठते ॥ ४० ॥

परमार्थ जो मोक्ष कहा जाता है उसको अथवा ब्रह्म को जानने वाला जो ज्ञानी पुरुष है वह दृश्यमान जो प्रपञ्चजात है उसका त्याग कर परिपूर्ण (व्यापक) चित् (चैतन्य) और आनन्द रूप से स्थित रहता है। जैसा श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्णचन्द्र ने अर्जुन के प्रति कहा है:—

'यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ॥
योगेन यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥१९॥ अ. ६ ॥

अर्थात् वायु रहित स्थान में रखे हुये दीपक की ज्योति जैसी निश्चल होती है, वही उपमा चित्त को संयत करके योगाभ्यास करने वाले योगी को दी जाती है। इसके अतिरिक्त महाभारत में ये दृष्टान्त हैं—तेल से भरे हुये पात्र को जीने पर से ले जाने में, या तूफान के समय नाव का बचाव करने में, मनुष्य जैसा युक्त अथवा एकाग्र होता है योगी का मन वैसा ही एकाग्र रहता है। कठोपनिषद् में सारथी और रथ के घोड़ों का दृष्टान्त दिया है ॥ ४० ॥

अवतरण—समाधि में स्थित योगी पुरुष को पृथिवी आदि दृश्य प्रपञ्च के लय होने पर ज्ञाता ज्ञान और ज्ञेय का

भेद और तीनों का समूह रूप प्रपञ्च के विद्यमान रहते भी दीपक का सादृश्य कैसा ? ।

ज्ञातृज्ञानज्ञेयभेदः परात्मनि न विद्यते ।
चिदानन्दैकरूपत्वाद्दीप्यते स्वयमेव हि ॥ ४१ ॥

अन्वयः—चिदानन्दैकरूपत्वात् परात्मनि ज्ञातृज्ञानज्ञेयभेदः न विद्यते, हि परात्मा स्वयमेव दीप्यते ॥ ४१ ॥

निर्विकल्पक समाधि दशा में चित् आनन्द एक रूप होने से परात्मा में ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय की भेद-प्रतीति नहीं होती है क्योंकि परात्मा स्वयमेव प्रकाशित रहता है अर्थात् उसके ज्ञानार्थ अन्य ज्ञान की अपेक्षा नहीं होती है। परन्तु सविकल्पक समाधि में ज्ञाता ज्ञान और ज्ञेय की भेद प्रतीति होती है ॥ ४१ ॥

अवतरण—ब्रह्म और जीवात्मा के एकाकार प्रतीत होने का फल वर्णन करते हैं।

एवमात्मारणौ ध्यानमथने सततं कृते ।
उदितावगतिर्ज्वाला सर्वाज्ञानेन्धनं दहेत् ॥ ४२ ॥

अन्वयः—एवं आत्मारणौ सततं ध्यानमथने कृते अवगतिः ज्वाला उदिता सती सर्वाज्ञानेन्धनं दहेत् ॥ ४२ ॥

इस प्रकार आत्मारूपी अरणि (मन्थन काष्ठ) में निरन्तर ध्यानरूपी मन्थन के करने पर अखण्ड ब्रह्माकार वृत्तिरूपा ज्वाला उदित होकर समस्त अज्ञान तथा अज्ञान के

कार्य जन्म मरण आदि संसार रूप इन्धन (काष्ठ) को भस्म कर देती है जैसा कि, श्रुति में प्रतिपादित है—

'आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्।
ज्ञाननिर्मथनाभ्यासाद्दहेत्कर्म स पण्डितः ॥' अर्थात्

आत्मा को नीचे की अरणि और प्रणव को ऊपर की अरणि बनाकर ज्ञान द्वारा मन्थन से जो कर्मों को भस्म करता है वह पण्डित है। गीता में भी कहा है—

'यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥
अ० ४ श्लो० ३७ ॥

अर्थात् जिस प्रकार प्रज्वलित की हुई अग्नि सब इन्धन को भस्म कर डालती है, उसी प्रकार हे अर्जुन ! यह ज्ञान रूप अग्नि सब कर्मों को (शुभाशुभ बन्धनों को) जला डालती है ॥ ४२ ॥

अवतरण—उक्त श्लोक में कथनानुसार उत्पन्न हुई जो ज्वाला उससे अज्ञान रूपी इन्धन का नाश और अनावृत आत्मा के साक्षात्कार होने में पृथक् २ दो दृष्टान्त देते हैं।

अरुणेनेव बोधेन पूर्वसन्तमसे हृते ।
तत आविर्भवेदात्मा स्वयमेवांशुमानिव ॥४३॥

अन्वयः—बोधेन अरुणेन इव पूर्वसन्तमसे हृते सति ततः आत्मा अंशुमान् इव स्वयमेव आविर्भवेत् ॥ ४३ ॥

जैसे प्रथम सूर्य के सारथी अरुण के उदय लेने से गाढ़ अन्धकार के नाश होने पर सूर्यनारायण उदित होते हैं इसी

तरह ज्ञान के उदय होने से अज्ञान रूप अन्धकार के नाश होने पर आत्मा स्वयं ही सूर्य के समान प्रकाशित होता है अर्थात् निर्मल ब्रह्मज्ञान हो जाता है। इसी बात को गीता में श्री कृष्णचन्द्र ने अर्जुन के प्रति कहा है—

'ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥

अ० ५ श्लो० १६ ॥

अर्थात् परन्तु ज्ञान से जिनका वह अज्ञान नष्ट हो जाता है उनके लिये उन्हीं का ज्ञान परमार्थ-तत्त्व को, सूर्य के समान प्रकाशित कर देता है ॥ ४३ ॥

अवतरण—आत्मा अपरोक्ष है और अपरोक्ष होने के कारण नित्यप्राप्त है क्योंकि जो वस्तु नित्यप्राप्त है वह परोक्ष और अप्राप्त नहीं होती है।

आत्मा तु सततं प्राप्तोऽप्यप्राप्यवदविद्यया।
तन्नाशेऽप्राप्तवद्भाति स्वकण्ठाभरणं यथा ॥४४॥

अन्वयः—आत्मा सततं प्राप्तः अपि तु अविद्यया अप्राप्यवत् भाति, यथा तन्नाशे स्वकण्ठाभरणं तथा प्राप्तवत् भाति ॥ ४४ ॥

आत्मा ज्ञानदृष्टि से निरन्तर प्राप्त है परन्तु अविद्या (अज्ञान) के द्वारा अप्राप्त के समान प्रतीत होता है। जैसे अपने कण्ठ में पड़ा हुआ आभूषण अज्ञान वश अप्राप्त और ज्ञान वश प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार अविद्या से अज्ञानियों

को अप्राप्त के समान और अविद्या के नाश होने पर प्राप्त के समान प्रतीत होता है। परन्तु आत्मा ज्ञानदृष्टि से सदा प्राप्त ही है ॥ ४४ ॥

अवतरण—जिसका अपरोक्ष साक्षात्कार होता है वह अखण्ड ब्रह्म नित्यप्राप्त हो परन्तु जीवात्मा नित्यप्राप्त कैसे ?।

स्थाणौ पुरुषवद् भ्रान्त्या कृता ब्रह्मणि जीवता।
जीवस्य तात्त्विके रूपे तस्मिन् दृष्टे निवर्तते ॥४५॥

अन्वयः—स्थाणौ पुरुषवत् भ्रान्त्या ब्रह्मणि जीवता कृता वर्तते, जीवस्य तस्मिन् तात्त्विके रूपे दृष्टे सति निवर्तते ॥ ४५ ॥

जिस प्रकार अन्धकार में स्थाणु (वृक्षखण्ड) को देखकर पुरुष का भ्रम होता है परन्तु विशेष ज्ञान के होने पर स्थाणु समझने लगता है उसी तरह ब्रह्म में भी जीवभाव भ्रम से प्रतीत होता है परन्तु जब 'तत्त्वमसि' महावाक्यों के द्वारा जीव के तात्त्विक (वास्तविक) रूप का ज्ञान हो जाता है तब जीवभाव निवृत्त हो जाता है ॥ ४५ ॥

अवतरण—जब विवेकियों को भी अहं मम (मैं मेरा) इत्यादि की प्रतीति होती है तो संसार की निवृत्ति किस प्रकार होती है ?।

तत्त्वस्वरूपानुभवादुत्पन्नं ज्ञानमञ्जसा।
अहं ममेति चाज्ञानं बाधते दिग्भ्रमादिवत् ॥४६॥

अन्वयः---तत्त्वस्वरूपानुभवात् उत्पन्नं ज्ञानं अञ्जसा दिग्भ्रमादिवत् अहं मम इति अज्ञानं बाधते च ॥ ४६ ॥

तत्त्वस्वरूपानुभव से अर्थात् 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्यों के द्वारा जीव और ब्रह्म की एकता के अनुभव से उत्पन्न जो ज्ञान वह अहं मम (मैं और मेरा) इस अज्ञान को रोक देता है अर्थात् नहीं होने देता है। जैसे सूर्यनारायण के उदय लेने पर दिशाओं में भ्रम ज्ञान नहीं होता है अर्थात् सूर्योदय के पूर्व जो दिशाओं में पूर्व दक्षिण पश्चिम उत्तर आदि का भ्रमज्ञान होता है वह सूर्योदय के होने पर नहीं होता है ॥ ४६ ॥

अवतरण—विवेकी (अज्ञान निवृत्त) की दृष्टि का वर्णन करते हैं।

सम्यग्विज्ञानवान् योगी स्वात्मन्येवाखिलं स्थितम्।
एकं च सर्वमात्मानमीक्षते ज्ञानचक्षुषा ॥४७॥

अन्वयः---सम्यक् विज्ञानवान् योगी ज्ञानचक्षुषा अखिलं स्वात्मनि एव स्थितं, सर्वं आत्मानं च एकं ईक्षते ॥ ४७ ॥

सम्यक् विज्ञानवान् अर्थात् संशयात्मक तथा विपरीत ज्ञानशून्य जो योगी है वह ज्ञानचक्षु से अर्थात् ज्ञानरूपी नेत्रों से समस्त जगत् को अपनी आत्मा में स्थित देखता है और सबको एक आत्मा रूप देखता है। क्योंकि आत्मा से अतिरिक्त सब प्रपञ्चजात मिथ्या माना गया है ॥ ४७ ॥

अवतरण—प्रत्यक्ष सिद्ध संसार को आत्मा से भिन्न

किस प्रकार कहते हैं ?। समाधान—जैसे उपादेय (कार्य) उपादान (कारण) से भिन्न प्रतीत होने पर भी बाधसामानाधिकरण्य सम्बन्ध से अभेद प्रतीत होता है इसी तरह संसार भी आत्मा से भिन्न प्रतीत होता है।

आत्मैवेदं जगत्सर्वमात्मनोऽन्यन्न विद्यते।
मृदो यद्वद्घटादीनि स्वात्मानं सर्वमीक्षते ॥४८॥

अन्वयः—यद्वत् सर्वाणि घटादीनि मृदः एव, तद्वत् इदं सर्वं जगत् आत्मा एव, आत्मनः अन्यत् न विद्यते अतः विवेकी सर्वं स्वात्मानं ईक्षते ॥ ४८ ॥

जिस प्रकार उपादेय (कार्य) रूप समस्त घट शराव आदि पदार्थ उपादान (कारण) रूप मृत्तिका से भिन्न नहीं है किन्तु केवल भिन्न प्रतीति होती है उसी तरह यह उपादेय रूप समस्त जगत् उपादान रूप आत्मा ही है, आत्मा से अतिरिक्त कोई पदार्थ नहीं है। इस लिये विवेकी पुरुष समस्त जगत् को अपनी आत्मा स्वरूप ही देखता है। तात्पर्य यह हुआ कि जगत् आत्मा से भिन्न प्रतीत तो होता है परन्तु वास्तव में भिन्न नहीं है जैसे घट शराव मृत्तिका रूप ही है वैसे समस्त जगत् आत्मा रूप ही है ॥ ४८ ॥

अवतरण—विवेकी विद्वान् पुरुष की जीवन्मुक्ति अवस्था का वर्णन करते हैं।

जीवन्मुक्तिस्तु तद्विद्वान् पूर्वोपाधिगुणांस्त्यजेत्।
सच्चिदानन्दरूपत्वाद्भवेद् भ्रमरकीटवत् ॥ ४९ ॥

अन्वयः---यदा जीवनमुक्तिस्तु तद्विद्वान् पूर्वोपाधिगुणान् त्यजेत्, तदा सच्चिदानन्दरूपत्वात् भ्रमरकीटवत् भवेद् ॥ ४६ ॥

जब जीवन मुक्त पुरुष जीव और ब्रह्म के एकता (अभेद) ज्ञान को जानकर तत्त्वज्ञान से पूर्व में कथित जो उपाधियों के गुण हैं अर्थात् प्रकृति धर्म हैं उनका श्रवण मनन निदिध्यासनादि द्वारा विवेक से त्याग करता है तब यह जीवनमुक्त पुरुष सत् चित् आनन्द रूप होने से सच्चिदानन्द हो जाता है। जैसे भृङ्गी नामक कीट भ्रमर के भय से भ्रमर हो जाता है उसी तरह ब्रह्म ज्ञानी पुरुष उपाधि रहित ब्रह्म में तन्मय होने से सच्चिदानन्द हो जाता है ॥ ४६ ॥

अवतरण—जीवनमुक्त पुरुष की स्थिति का वर्णन करते हैं।

तीर्त्वा मोहार्णवं हत्वा रागद्वेषादिराक्षसान् ।
योगी शान्तिसमायुक्तो ह्यात्मारामो विराजते ॥५०॥

अन्वयः—आत्मारामः योगी मोहार्णवं तीर्त्वा रागद्वेषादिराक्षसान् हत्वा शान्तिसमायुक्तः हि विराजते ॥५०॥

आत्मानन्दी योगी पुरुष मोहरूप समुद्र को पारकर राग द्वेष आदि रूप राक्षसों का नाश कर शान्ति से युक्त होकर विराजमान होता है। जिस प्रकार पुराणपुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र जी ने समुद्र को लाँघकर समस्त राक्षसों का नाश कर शान्ति (सीता) से युक्त होकर श्री अयोध्यापुरी में विराजमान हुये ॥ ५० ॥

अवतरण—दृष्टान्त द्वारा जीवन मुक्त पुरुष का वर्णन करते हैं।

बाह्यानित्यसुखासक्तिं हित्वाऽऽत्मसुखनिर्वृतः।
घटस्थदीपवत्स्वच्छः स्वान्तरेव प्रकाशते॥ ५१॥

अन्वयः—बाह्यानित्यसुखासक्तिं हित्वा आत्मसुखनिर्वृतः स्वान्त एव स्वच्छः सन् प्रकाशते॥ ५१॥

कर्ण अक्षि नासिका आदि बाह्य इन्द्रियों के विषय के साथ सम्बन्ध होने से उत्पन्न जो विषयानन्दरूपी अनित्य सुख उसमें आसक्ति (प्रेम) को त्यागकर और आत्मसुख में मग्न होकर घटस्थ (घट के अन्दर स्थित) दीपक के समान अपने अन्तःकरण में ही निर्मल होकर प्रकाशमान होता है। गीता में भी श्रीकृष्णचन्द्र ने अर्जुन के प्रति कहा है कि—

'प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥

अ० २ श्लो० ५५

अर्थात् हे पार्थ! जब (कोई मनुष्य अपने) मन के समस्त काम अर्थात् वासनाओं को छोड़ता है और अपने आप में ही सन्तुष्ट होकर रहता है तब उसको स्थितप्रज्ञ कहते हैं॥५१॥

अवतरण—तत्त्वज्ञानी पुरुषों का विषयों के साथ जो सम्बन्ध होता है वह किस प्रकार है इसको दृष्टान्त द्वारा वर्णन करते हैं।

उपाधिस्थोऽपि तद्धर्मैर्न लिप्तो व्योमवन्मुनिः।
सर्वविन्मूढवत्तिष्ठेदसक्तो वायुवच्चरेत्॥ ५२॥

अन्वयः—मुनिः व्योमवत् उपाधिस्थोऽपि तद्धर्मैः न लिप्तः सर्ववित् मूढवत् तिष्ठेत् असक्तः वायुवत् चरेत् ॥५२॥

मुनि अर्थात् उपनिषदों के द्वारा स्वान्तःकरण में मनन करने वाला तत्त्वज्ञानी पुरुष उपाधियों में स्थित होकर भी धूलि से आकाश के समान उपाधियों के सुख दुःख आदि धर्मों से लिप्त नहीं होता है और सर्वज्ञ होकर भी मूढ के समान रहता है तथा असक्त होकर अर्थात् प्रारब्धवश प्राप्त विषयों में लवलीन न होकर वायु के समान अर्थात् जैसे वायु सुगन्धित पदार्थों में लवलीन न होकर विचरता है उसी तरह तत्त्वज्ञानी पुरुष भी विषयों में लयलीन न होकर विचरता रहता है ॥ ५२ ॥

अवतरण—तत्त्वज्ञानी पुरुष की विदेह कैवल्यमुक्ति का वर्णन करते हैं।

उपाधिविलयाद्विष्णौ निर्विशेषं विशेन्मुनिः ।
जले जलं वियद् व्योम्नि तेजस्तेजसि वा यथा ५३

अन्वयः—यथा जले जलं व्योम्नि वियत् वा तेजसि तेजः तथा मुनिः उपाधिविलयात् विष्णौ निर्विशेषं विशेत् ॥ ५३ ॥

जैसे जल में जल, अर्थात् नदी अपने स्वरूप का त्यागकर समुद्र रूप हो जाती है, आकाश में आकाश अर्थात् घटाकाश मठाकाश घट मठ उपाधि को छोड़कर महदाकाश में मिल जाता है और तेज में तेज अर्थात् दीपक का तेज अग्नि में मिल जाता है उसी प्रकार मुनि अर्थात् तत्त्वज्ञानी पुरुष देह आदि

उपाधियों के नष्ट होने पर व्यापक रूप परब्रह्म में अच्छी तरह मिल जाता है ॥ ५३ ॥

अवतरण—उक्त श्लोक से निर्विशेष रूप से परब्रह्म में लय बतलाया अब उस परब्रह्म का निरूपण करते हैं जिस परब्रह्म की प्राप्ति विदेह मुक्ति अवस्था में होती है।

यल्लाभान्नापरो लाभो यत्सुखान्नापरं सुखम्।
यज्ज्ञानान्नापरं ज्ञानं तद्ब्रह्मेत्यवधारयेत् ॥५४॥

अन्वयः—यल्लाभात् अपरः लाभः न, यत्सुखात् अपरं सुखं न, यज्ज्ञानात् अपरं ज्ञानं न तत् ब्रह्म इति अवधारयेत् ॥ ५४ ।

जिसके लाभ से बढ़कर दूसरा लाभ न हो और जिस सुख से बढ़कर दूसरा सुख न हो तथा जिस ज्ञान से बढ़कर दूसरा ज्ञान न हो उसको ब्रह्म स्वरूप निश्चय करे। गीता में भी कहा है कि—

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥
अ० ७ श्लो० २।

अर्थात् हे पार्थ! विज्ञान समेत इस पूरे ज्ञान को मैं तुझ से कहता हूं, कि जिसको जानकर इस लोक में कल्याणमार्ग में वर्तमान पुरुष को ज्ञातव्य शेष नहीं रह जाता है। अर्थात् ब्रह्म के लाभ में समस्त जगत् का लाभ अन्तर्गत है और ब्रह्म के सुख में संसार मात्र का सुख अन्तर्गत है तथा ब्रह्मज्ञान

के अन्तर्गत समस्त संसार का ज्ञान हो जाता है और ब्रह्मज्ञान ही मोक्ष का कारण है ऐसा निश्चय करे ॥ ५४ ॥

अवतरण—उक्त विषय का ही विवरण करते हैं।

यद्दृष्ट्वा न परं दृश्यं यद्भूत्वा न पुनर्भवः।
यज्ज्ञात्वा न परं ज्ञानं तद्ब्रह्मेत्यवधारयेत् ॥ ५५ ॥

अन्वयः—यत् दृष्ट्वा परं दृश्यं न, यत् भूत्वा पुनर्भवः न, यत् ज्ञात्वा परं ज्ञानं न तत् ब्रह्म इति अवधारयेत् ॥ ५५ ॥

जिसको देखने पर अर्थात् जिसके साक्षात्कार होने पर दूसरा कोई भी देखने योग्य नहीं रह जाता है क्यों कि ब्रह्म को देख लेने पर ब्रह्म में कल्पित जगत् का साक्षात्कार हो जाता है और जिस ब्रह्म रूप में होकर पुनर्भव (पुनर्जन्म) नहीं होता है। गीता में भी कहा है कि—

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥

अ० ८ श्लो० २१।

अर्थात् जिस अव्यक्त को 'अक्षर' कहते हैं, जो परम अर्थात् उत्कृष्ट अन्त की गति कहा जाता है और जिसको प्राप्त कर पुनः लौटना नहीं होता है वह मेरा ही धाम (स्वरूप) है। ममैव यहां उपचार में षष्ठी है राहोः शिरः (राहु के शिर) के समान। अतः सिद्ध हुआ कि मैं ही परम गति हूं। और जिसको जान कर दूसरा ज्ञातव्य नहीं रह जाता है क्योंकि कारण से भिन्न कार्य की सत्ता नहीं मानी जाती है अर्थात्

कारण ज्ञान से समस्त कार्य का ज्ञान हो जाता है ऐसा जो है उसको ब्रह्म जानकर स्थिर करे ॥ ५५ ॥

अवतरण—उक्त श्लोकों से यह सिद्ध हुआ कि ज्ञानी पुरुष की विदेह कैवल्य अवस्था के द्वारा परब्रह्म में प्राप्ति होती है उस पर सन्देह होता है कि वह ब्रह्म परिच्छिन्न (अव्यापक) है अथवा अपरिच्छिन्न (व्यापक) है। यदि वह परिच्छिन्न (एकदेशी) है तो नाशवान् होने से परम पुरुषार्थ की सिद्धि नहीं होगी और यदि अपरिच्छिन्न (सर्वव्यापक) है तो उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती है इसका उत्तर ब्रह्म निरूपण द्वारा करते हैं।

तिर्यगूर्ध्वमधः पूर्णं सच्चिदानन्दमद्वयम् ।
अनन्तं नित्यमेकं यत्तद्ब्रह्मेत्यवधारयेत् ॥ ५६ ॥

अन्वयः—यत् तिर्यक् ऊर्ध्वं अधः पूर्णं सच्चिदानन्दं अद्वयं अनन्तं नित्यं एकं तत् ब्रह्म इति अवधारयेत् ॥५६॥

जो तिर्यक् अर्थात् पूर्व दक्षिण पश्चिम उत्तर दिशाओं में और ऊपर नीचे सर्वत्र सत् चित् आनन्द रूप से परिपूर्ण है और अद्वितीय अर्थात् उसके अतिरिक्त अन्य कोई पदार्थ नहीं है तथा अनन्त अर्थात् देश काल वस्तु के परिच्छेद से रहित है और नित्य अर्थात् सत्य है तथा एक है अर्थात् सजातीय विजातीय स्वगत भेद से रहित है ऐसा जो है उसको ब्रह्म जानकर स्थिर करे ॥ ५६ ॥

अवतरण—नेति नेति वाक्य द्वारा अर्थात् यह ब्रह्म नहीं है यह ब्रह्म नहीं है इत्यादि निषेध द्वारा ब्रह्म का निरूपण करते हैं।

अतद्व्यावृत्तिरूपेण वेदान्ते लक्ष्यतेऽव्ययम् ।
अखण्डानन्दमेकं यत्तद्ब्रह्मेत्यवधारयेत् ॥५६॥

अन्वयः—यत् वेदान्ते अतद्व्यावृत्तिरूपेण अव्ययं अखण्डानन्दं एकं लक्ष्यते तत् ब्रह्म इति अवधारयेत् ॥५७॥

वेदान्तादि ग्रन्थों में आत्मा से भिन्न की व्यावृत्ति (निषेध) रूप से अर्थात् यह ब्रह्म नहीं है, यह ब्रह्म नहीं है इत्यादि रूप से जो शेष अव्यय (अविनाशी) है और तत्त्वमसि इत्यादि वाक्यों के द्वारा अखण्ड आनन्द एक सुखरूप सिद्ध होता है वह ब्रह्म है ऐसा उसको समझे ॥ ५७ ॥

अवतरण—जब ब्रह्मा विष्णु महेश इन्द्र आदि देवताओं को भी आनन्द के भोक्ता शास्त्र में कहा है तब केवल ब्रह्म को ही आनन्द के भोक्ता कैसे कहा ? ।

अखण्डानन्दरूपस्य तस्यानन्दलवाश्रिताः ।
ब्रह्माद्यास्तारतम्येन भवन्त्यानन्दिनोऽखिलाः ५८

अन्वयः—तस्य अखण्डानन्दरूपस्य आनन्दलवाश्रिताः अखिलाः ब्रह्माद्याः तारतम्येन आनन्दिनः भवन्ति ॥५८॥

उस अखण्ड ब्रह्मानन्द रूप के आनन्द लेश के आश्रय होकर समस्त ब्रह्मा विष्णु महेश इन्द्र आदि अपने अपने पुण्य के अनुसार अर्थात् न्यून अधिक भाव से आनन्द युक्त होते हैं अर्थात् उस अखण्ड ब्रह्मानन्द का अंशमात्र जो इन देवताओं में प्रतीत होता है वह क्षुद्र आनन्द है और ब्रह्मानन्द तो पूर्ण आनन्द है उससे परे कोई आनन्द ही नहीं है जो कि विदेह अवस्था में स्थित पुरुष को ही होता हैं ॥ ५८ ॥

अवतरण—उक्त श्लोक से अखण्ड ब्रह्मानन्द के अंशमात्र आनन्द के सम्बन्ध से ब्रह्मा विष्णु इन्द्र आदि देवता भी आनन्दयुक्त सिद्ध हुये अब सन्देह यह होता है कि जिसके लेशमात्र आनन्द के सम्बन्ध से समस्त देवता आनन्दित होते हैं वह अखण्ड ब्रह्मानन्द कहां रहता है?।

तद्युक्तमखिलं वस्तु व्यवहारस्तदन्वितः ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म क्षीरे सर्पिरिवाखिले ॥ ५६ ॥

अन्वयः—अखिले क्षीरे सर्पिः इव अखिलं वस्तु तद्युक्तम्, व्यवहारः तदन्वितः तस्मात् ब्रह्म सर्वगतं अस्ति ॥ ५६ ॥

जिस तरह समस्त दूध में व्याप्त होकर घृत रहता है उसी तरह समस्त वस्तुजात अर्थात् जगत् के सम्पूर्ण घट पट मठ आदि पदार्थ उस ब्रह्म से युक्त हैं और जगत् के जितने लेन देन गमन आगमन भोजन आदि व्यवहार हैं वे भी उस अखण्ड ब्रह्मानन्द से युक्त हैं। जैसा कि गीता में श्रीकृष्णचन्द्र ने अर्जुन के प्रति कहा है—

"सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥
अ॰ १३ श्लो॰ १४ ॥

अर्थात् उसमें सब इन्द्रियों के गुणों का आभास है, पर उसके कोई भी इन्द्रिय नहीं है, वह सबसे असक्त अर्थात् अलग होकर भी सबका पालन करता है और निर्गुण होने पर भी गुणों का उपभोग करता है। इससे वह ब्रह्म सबों में व्यापक रूप से स्थित है यह सिद्ध हुआ ॥ ५६ ॥

अवतरण—जब ब्रह्म समस्त प्रपञ्च में अनुगत है यह सिद्ध हुआ तो वह ब्रह्म प्रपञ्च के धर्मों से युक्त क्यों नहीं है ? ।

अनण्वस्थूलमह्रस्वमदीर्घमजमव्ययम् ।
अरूपगुणवर्णाख्यं तद्ब्रह्मेत्यवधारयेत् ॥६०॥

अन्वयः—यत् अनणु अस्थूलं अह्रस्वं अदीर्घं अजं अव्ययं अरूपगुणवर्णाख्यं अस्ति तत् ब्रह्म इति अवधारयेत् ॥ ६० ॥

जो वस्तु न अणु (सूक्ष्म) है और न स्थूल है तथा न ह्रस्व है और न दीर्घ है तथा जन्म से रहित है और अविनाशी है तथा रूप गुण और ब्राह्मणत्व आदि वर्णों से रहित है वह ब्रह्म है ऐसा मुमुक्षु जन निश्चय करें ॥ ६० ॥

अवतरण—सूर्यादिकों में उसी ब्रह्म का तेज है और उन सूर्यादिकों के तेज से ब्रह्म प्रकाशित नहीं होता है ।

यद्भासा भासतेऽर्कादिर्भास्यैर्यत्तु न भास्यते ।
येन सर्वमिदं भाति तद्ब्रह्मेत्यवधारयेत् ॥६१॥

अन्वयः—यद्भासा अर्कादिः भासते, यत् तु भास्यैः न भास्यते, इदं सर्वं येन भाति तत् ब्रह्म इति अवधारयेत् ॥ ६१ ॥

जिस ब्रह्म के तेज से सूर्य चन्द्र आदि का प्रकाश होता है और जो प्रकाश्य सूर्य चन्द्र आदि के तेज से प्रकाशित नहीं होता है तथा यह दृश्यमान समस्त जगत् जिस ब्रह्म से प्रकाशित होता है वह ब्रह्म है ऐसा निश्चय करे ॥ ६१ ॥

अवतरण—ब्रह्म को दूसरे के तेज की आवश्यकता नहीं है यह ब्रह्म स्वयं प्रकाशित होता है इस बात को दृष्टान्त के द्वारा सिद्ध करते हैं।

स्वयमन्तर्बहिर्व्याप्य भासयन्नखिलं जगत्।
ब्रह्म प्रकाशते वह्निप्रतप्तायसपिण्डवत् ॥६२॥

अन्वयः—वह्नि प्रतप्तायसपिण्डवत् अन्तर्बहिः व्याप्य अखिलं जगत् भासयन् ब्रह्म स्वयं प्रकाशते ॥ ६२ ॥

जिस तरह अग्नि से सन्तप्त लोहपिण्ड के भीतर बाहर व्याप्त होकर अग्नि स्थित है और लोहपिण्ड को प्रकाशित करता हुआ अग्नि स्वयं भी प्रकाशित होता है। उसी तरह बाहर और भीतर व्याप्त होकर समस्त जगत् को प्रकाशित करता हुआ ब्रह्म स्वयं भी प्रकाशित होता है अर्थात् ब्रह्म सबमें ओत-प्रोत है अर्थात् ब्रह्मातिरिक्त कुछ भी नहीं है ॥ ६२ ॥

अवतरण—ब्रह्म सत्य है और जगत् मिथ्या है इसको दृष्टान्त के द्वारा स्थिर करते हैं।

जगद्विलक्षणं ब्रह्म ब्रह्मणोऽन्यन्न किञ्चन।
ब्रह्मान्यद्भाति चेन्मिथ्या यथा मरुमरीचिका ॥६३॥

अन्वयः—ब्रह्म जगद्विलक्षणं वर्तते, ब्रह्मणः अन्यत् किञ्चन न अस्ति, ब्रह्मान्यत् किञ्चन भाति चेत् तर्हि यथा मरुमरीचिका तथा मिथ्या ॥ ६३ ॥

ब्रह्म जगत् से विलक्षण है अर्थात् जड़ मिथ्या और दुःख रूप जगत् से भिन्न सत् चित् आनन्दस्वरूप ब्रह्म विलक्षण है और ब्रह्म से अतिरिक्त कुछ भी नहीं है तथा ब्रह्म से अतिरिक्त जो कुछ घट पट मठ आदि प्रतीत होते हैं वे सब मिथ्या हैं जैसे मरुदेश की रेती में जल तथा तेजपुञ्ज की प्रतीति मिथ्या होती है। वास्तव में ब्रह्म ही सत्य है और सब मिथ्या है ॥ ६३ ॥

अवतरण—उक्त श्लोक से प्रतिपादित विषय का ही विस्तृत रूप से वर्णन करते हैं।

दृश्यते श्रूयते यद्यद्‌ब्रह्मणोऽन्यन्न तद्भवेत् ।
तत्त्वज्ञानाच्च तद्‌ब्रह्म सच्चिदानन्दमद्वयम् ॥६४॥

अन्वयः—यत् यत् दृश्यते श्रूयते तत् ब्रह्मणः अन्यत् न भवेत्, अतः तत्त्वज्ञानात् तद्‌ब्रह्म सच्चिदानन्दं अद्वयं भासते ॥ ६४ ॥

जो कुछ वस्तु देखने में अथवा सुनने में आता है वह सब ब्रह्म से भिन्न नहीं है अर्थात् दृश्यमान अथवा श्रूयमाण जो कुछ है वह सब ब्रह्ममय है। इसलिये वह ब्रह्म तत्त्वज्ञान से अर्थात् 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों के द्वारा जीव ब्रह्म में अभेद प्रतीति होने से सत् चित् आनन्दस्वरूप और अद्वैत भासता है अर्थात् अखण्ड प्रतीत होता है ॥ ६४ ॥

अवतरण—जब कि सत् चित् आनन्दस्वरूप ब्रह्म सर्वत्र व्यापक रूप से वर्तमान है तो सर्वत्र सबको प्रत्यक्ष क्यों नहीं होता है ?।

सर्वगं सच्चिदात्मानं ज्ञानचक्षुर्निरीक्षते।
अज्ञानचक्षुर्नेक्षेत भास्वन्तं भानुमन्धवत् ॥६५॥

अन्वयः—ज्ञानचक्षुः पुरुषः सर्वगं सच्चिदात्मानं निरीक्षते, अपि च अज्ञानचक्षुः पुरुषः भास्वन्तं भानुं अन्धवत् सर्वगं सच्चिदात्मानं न ईक्षते ॥ ६५ ॥

ज्ञानचक्षु वाले पुरुष उस सर्वत्र व्यापक सत् चित् आनन्दस्वरूप आत्मा को देखते हैं अर्थात् ज्ञान-दृष्टि से उस ब्रह्म का दर्शन करते हैं और जो अज्ञानचक्षु वाले हैं अर्थात् जो अज्ञान दृष्टि हैं वे लोग उस भासमान व्यापक सत् चित् आनन्दस्वरूप आत्मा को नहीं देखते हैं जैसे अन्धा पुरुष सर्वत्र भासमान सूर्यनारायण को नहीं देखता है ॥ ६५ ॥

अवतरण—यद्यपि ज्ञानचक्षु पुरुषों को विवेक होने के कारण देह इन्द्रिय आदि में होनेवाले अध्यासरूप मल दूर हो जाते हैं तथापि पूर्वजन्म के अध्यास से संसार की वासना के वश में होकर मैं मनुष्य हूं इस तरह का देह में बन्धन प्रतीत होता है तो आत्मस्वरूप में स्थित होकर जीवनमुक्त कैसे हो सकता है ?।

श्रवणादिभिरुद्दीप्तो ज्ञानाग्निपरितापितः।
जीवः सर्वमलान्मुक्तः स्वर्णवद्द्योतते स्वयम् ॥६६॥

अन्वयः—श्रवणादिभिः उद्दीप्तः ज्ञानाग्निपरितापितः सर्वमलात् मुक्तः जीवः स्वर्णवत् स्वयं द्योतते ॥ ६६ ॥

श्रवण मनन निदिध्यासन इन उपायों से उद्दीप्त (प्रज्वलित)

और ज्ञानरूपी अग्नि से परितापित (युक्त) तथा सम्पूर्ण मलों से मुक्त जो जीव है वह सुवर्ण के समान स्वयं प्रकाशित होता है अर्थात् सच्चिदानन्द रूप से स्वयं प्रकाशित होने पर मैं मनुष्य हूं यह श्रवण मनन निदिध्यासन कीर्तन और अग्नि-सन्तपन आदि उपायों के द्वारा मलों से निर्मुक्त किया जाता है बाद यह सुवर्ण स्वयं प्रकाशित होने लगता है उसको दूसरे प्रकाश की आवश्यकता नहीं रह जाती है इसी तरह आत्मा भी उक्त उपायों के द्वारा मलों से निर्मुक्त होकर स्वयं प्रकाशित होता है उस आत्मा को दूसरे प्रकाश की जरूरत नहीं रहती है ॥ ६६ ॥

अवतरण—उपरोक्त उपायों के द्वारा शुद्ध हुई आत्मा का रूप क्या है ? और प्रकट कहां होता है ? तथा किसको भासता है ? ।

हृदाकाशोदितो ह्यात्मा बोधभानुस्तमोऽपहृत् ।
सर्वव्यापी सर्वधारी भाति सर्वं प्रकाशते ॥६७॥

अन्वयः—हृदाकाशोदितः बोधभानुः आत्मा तमोऽपहृत् भवति, हि, तथाहि आत्मा सर्वव्यापी सर्वधारी भाति, सर्वं प्रकाशते च ॥ ६७ ॥

पूर्वोक्त उपायों से अर्थात् 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों के द्वारा जीव और ब्रह्म में ऐक्य प्रतीति होने से शुद्ध बोध रूप सूर्य (आत्मा) हृदयाकाश में उदय होकर अन्धकार के समान अज्ञान रूप अन्तःकरण के मल को दूर करता है। और यह आत्मा सर्वव्यापी है इस कथन से हृदयाकाश के परिच्छिन्न होने से आत्मा को भी परिच्छिन्न होना चाहिये

यह शंका निरस्त हो गई। तथा आत्मा सबका आधार है अर्थात् अज्ञान के कार्य जगत् का अधिष्ठान है अर्थात् भ्रमरूप हृदयाकाश व्यापक रूप आत्मा का नाशक नहीं है और सबका प्रकाशक आत्मा है ॥ ६७ ॥

अवतरण—निम्नलिखित श्लोक से आत्मतत्त्वज्ञान को तीर्थ रूप से वर्णन करते हैं और यज्ञादिकर्म प्रयागादि तीर्थ इन्द्रादि देवताओं की सेवा की अपेक्षा आत्मतत्त्वज्ञान रूप तीर्थ का सेवन श्रेष्ठ है क्योंकि यागादि सेवन से परम्परा मुक्ति होती है और आत्मसेवन से साक्षात् जीवनमुक्त हो जाता है उस जीवनमुक्त पुरुष की समस्त आकांक्षायें शान्त हो जाती हैं। परन्तु आत्मज्ञानी पुरुष भी स्वाभाविक पापों को दूर करने के लिये प्रयाग आदि तीर्थों का सेवन करता है। और आत्मज्ञानी पुरुष स्वर्णवत् स्वयं प्रकाशमान है तथा समस्त मलों से रहित है तो इस अवस्था को प्राप्त करने का क्या प्रकार है ? ।

दिग्देशकालाद्यनपेक्ष्य सर्वगं
शीतादिहृन्नित्यसुखं निरञ्जनम् ।
यः स्वात्मतीर्थं भजते विनिष्क्रियः
स सर्ववित्सर्वगतोऽमृतो भवेत् ॥ ६८ ॥

अन्वयः—यः दिग्देशकालाद्यनपेक्ष्य सर्वगं शीतादिहृत् नित्यसुखं निरञ्जनं स्वात्मतीर्थं विनिष्क्रियः सन् भजते सः सर्ववित् सर्वगतः अमृतः भवेत् ॥ ६८ ॥

जो पूर्वादि दिशा, प्रयागादि देश और पुण्यकाल की अपेक्षा न करके सर्वत्र व्यापक रूप और शीत उष्ण आदि द्वन्द्वों के नाशक तथा नित्य सुख रूप और निरञ्जन अर्थात् माया के कार्य जगत् रूप मल से रहित अपने आत्मरूप तीर्थ को विनिष्क्रिय होकर अर्थात् कर्मों से रहित होकर भजता है अर्थात् केवल आत्मा के विचार में ही तत्पर रहता है वह सर्ववेत्ता और सर्वत्र व्यापक तथा अमृतरूप (ब्रह्मरूप) हो जाता है। इससे मुमुक्षु पुरुषों को वेदान्तादि ग्रन्थों के द्वारा आत्मतीर्थ में निश्चल होने के लिये दृढ़ अभ्यास करना चाहिये ॥ ६८ ॥

इति श्रीकाशीस्थकाशीनाथसंस्कृतपाठशालायां प्रधानाध्यापकेन सनाढ्यवंशोद्भवडींगुरपुरीयोपाह्व पं० जगन्नाथव्यासजेन व्या० आ० 'विद्यारत्न' पं० माधवप्रसादव्यासेन कृता श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छङ्करा-चार्यकृतस्य आत्मबोधस्य भाषाटीका समाप्ता ॥



एवं चेद्यमात्मानं पुमान् ज्ञातुं न शक्नुयात् ।
अमुना वा प्रकारेण विजानीयात् स बुद्धिमान् ॥ १ ॥
अधरारणिमात्मीयं देहं कुर्वीत पण्डितः ।
त्रिमात्रं प्रणवं तद्वदुत्तरारणिसंज्ञितम् ॥ २ ॥
मन्थानं च मनोध्यानं नेत्रं कृत्वा विलोडयेत् ।
एवं विलोडनात् पुंस आनन्दात्माभिधोऽनलः ॥ ३ ॥
सकृत्सञ्जातमात्रोऽपि पाशान्कामादिनामकान् ।
दहेत्तेषु प्रदग्धेषु स्वयमेकोऽवतिष्ठते ॥ ४ ॥
पाशान् दहति यो जीवः स्वात्मनो ब्रह्मबोधतः ।
न भिन्नो ब्रह्मणः सोऽयं किन्तु ब्रह्मैव केवलम् ।
निगूढं मायया स्वस्य शयानः पुरुषो यथा ॥ ५ ॥
जीवनं प्राप्य कर्माणि कुरुते विविधानि हि ।
कृत्वा च फलमात्मायं भुंक्ते जीवः कृतं स्वयम् ॥ ६॥
स्वप्ने जागरणे देहान् गृह्णानानाविधानपि ।
तृप्तिं च विविधैर्भोगैर्याति तृप्तिविवर्जितः ॥ ७ ॥
सुषुप्तौ मूर्च्छितो भूत्वा विक्षेपेण विवर्जितः ।
आनन्दं स्वात्मनस्तावद्भुञ्जानोऽपि न वेत्त्ययम् ॥ ८ ॥
मन्त्रौषधैर्यथा मूढ आत्मानं नैव वेत्ति हि ।
माययैवं विमूढोऽयं वेत्ति किञ्चिन्न संसृतौ ॥ ९ ॥
निर्दोषोऽपि यथा कश्चिद्दोषवानिव संगतः ।
मायासङ्गात्तथा जीवः संसारीव प्रतीयते ॥ १० ॥
रूपशून्ये यथाऽऽकाशे रूपं वेत्ति विमोहितः ।
मायाशून्ये तथा जीवे माया भातीव मायया ॥ ११ ॥
विद्वानपि यथा मोहं स्वप्ने गच्छत्यमूढधीः ।
एवमात्मापि संसारे मोहं गच्छत्यमोहितः ॥ १२ ॥
शयानः पुरुषो दुःखं यावन्निद्रात्ययं व्रजेत् ।

यथा तथाऽत्र जीवोऽपि यावन्मायाक्षयं व्रजेत् ॥ १३ ॥
यथा प्रबोधयेत्कश्चित् शयानं करुणावृतः ।
रुदन्तं बहु हिक्कादि मुञ्चन्तं बहुदुःखितम् ॥ १४ ॥
गुरुस्तथा कृपाविष्टः संसारस्वप्नपीडितम् ।
तापत्रययुतं कश्चिद्बोधयेत्करुणावृतः ॥ १५ ॥
प्रतिबुद्धो यथा स्वाप्नं नरो दुःखं न पश्यति ।
प्रतिबुद्धस्तथा जीवो नैतद्दुःखं प्रपश्यति ॥ १६ ॥
जीवस्य प्रतिबोधो यो जायते भाग्ययोगतः ।
साऽवस्था दुर्लभा नृणां चतुर्थी कस्यचिद्भवेत् ॥ १७ ॥
स्थूलं सूक्ष्मं तथाऽज्ञानं पुरत्रयमुदीरितम् ।
जीवस्य तत्तुरीयाप्तौ नाशमेति न चान्यथा ॥ १८ ॥
मारं मारं च गृह्णीते स्थूलं देहं सदैव सः ।
कर्मानुसारतस्तत्तद्ग्राह्यं ग्राह्यं जहाति च । १९ ॥
जातो बालो युवा वृद्धो मृतो जातः पुनस्तथा ।
बंभ्रमीत्येष संसारे घटीयन्त्रसमोऽवशः ॥ २० ॥
उच्चावचानयं देहानात्मा ज्ञानविवर्जितः ।
प्राप्नोत्येवानुभोगान्ते नाशमेति पुनः पुमान् ॥ २१ ॥
तुरीयं प्राप्यते रूपं यज्जीवे नात्मनः सदा ।
आधारभूतं निर्देश्यमानन्दात्मस्वयंप्रभम् ॥ २२ ॥
सर्वस्य जगतो हेतुं कार्यकारणवर्जितम् ।
एतस्माज्जायते प्राणो मनः कर्मेन्द्रियाणि च ॥
खं वायुर्ज्योतिरापो वै भूमिर्विश्वस्य धारिणी ॥ २३ ॥
एतत्तुरीयं गुरव एवमात्मतया सदा ।
आविशन्ति महात्मानः शिष्यान्विगतकल्मषान् ॥ २४ ॥
यत्परंब्रह्म सर्वात्मविश्वस्यायतनं महत् ।
सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं नित्यं तदेव त्वं त्वमेव तत् ॥ २५ ॥

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्याख्यप्रपञ्चं यत्प्रकाशते ।
तद्ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा सर्वबन्धैः प्रमुच्यते ॥ २६ ॥
त्रिषु धामसु यद्भोग्यं भोक्ता भोगश्च यो भवेत् ।
तेभ्यो विलक्षणः साक्षी चिन्मात्रोऽहं सदाशिवः ॥ २७ ॥
एवं सद्गुरुणादिष्टमात्मानं प्रतिपद्यते ।
अणोरणुतमं तद्वन्महतोऽपि महत्तरम् ॥ २८ ॥
मय्येव सकलं जातं मयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
मयि सर्वं लयं याति विश्वमेतच्चराचरम् ॥
सर्वभेदविनिर्मुक्तं तद्ब्रह्माद्वयमस्म्यहम् ॥ २९ ॥
विश्वरूपं पुराणं च पुरुषं तेजसां निधिम् ।
इन्द्रियैः सकलैः शून्यं ज्ञानकर्मद्वयात्मकैः ॥ ३० ॥
प्राणबुद्ध्यादिभिस्तद्वज्जगवन्तं महेश्वरम् ।
सर्वज्ञं द्वैतरहितमवाङ्मनसगोचरम् ॥ ३१ ॥
वेदैरनेकैः संवेद्यं वेदान्तार्थप्रकाशकम् ।
सर्वविद्यागुरुं देवं प्रपञ्चेन विवर्जितम् ॥ ३२ ॥
भूतभौतिकरूपोऽयं मायया सहितोऽपि च ।
आनन्दात्मनि निर्द्वन्द्वे यतोऽध्यस्तोऽखिलोऽपि च ॥ ३३ ॥
गन्धर्वनगरं यद्वद्ध्यस्तं गगनेऽमले ।
ततो न कोऽपि भेदोऽत्र भूतो भवति भाव्यपि ॥ ३४ ॥
एवं ज्ञात्वा परं रूपमानन्दात्मानमद्वयम् ।
सर्वबुद्धिस्थितं सर्वबुद्धिसाक्षिणमीश्वरम् ॥
प्रयाति पुरुषः शुद्धं नित्यं सदसतः परम् ॥ ३५ ॥
सगुणं ब्रह्म चेज्ज्ञातुं निर्गुणं च न शक्नुयात् ।
पुरुषो न तदा न्यासं कुर्यात्ताशुद्धमानसः ॥ ३६ ॥
किन्तु नित्यं जपेदेतं रुद्राध्यायमनिन्दितम् ।
सर्वपापहरं यस्माज्जपो नान्योऽधिकोऽस्ति हि ॥३७॥

स जपाच्छुद्धहृदयो वैराग्यं परमं गतः ।
उपायैर्वापि पूर्वोक्तैश्चतुर्थाश्रममाव्रजेत् ॥ ३८ ॥
तत्रापि यावन्नैव स्यात्साक्षात्कारः परात्मनः ।
रुद्राध्यायं जपंस्तावदुमानाथं विचिन्तयेत् ॥ ३९ ॥
उमासहायं परमेश्वरं प्रभुं
चतुर्भुजं नीलकण्ठं प्रशान्तम् ।
ध्यात्वा मुनिर्गच्छति भूतयोनिं
समस्तसाक्षिं तमसः परस्तात् ॥ ४० ॥
यथाकालं हि वेदान्तश्रवणादीनि सर्वदा ।
कुर्वीत च गुरोर्भक्तिं परमास्तिक्यमाश्रितः ॥ ४१ ॥
एवं हि कुर्वतो नित्यं यतेरत्र प्रयोजनम् ।
ब्रह्मोपनिषदाद्युक्तं जायते यद्विदेरितम् ॥ ४२ ॥
श्वेतकेतुर्हि सर्वज्ञो यतीनां प्रथमो हि सः ।
विज्ञातवान् परंतत्त्वमात्मोपनिषदापि हि ॥ ४३ ॥
तस्मादात्मैव विज्ञेयः परहंसेन सर्वदा ।
अस्य मुख्योऽयमाचारो जघन्योऽन्यः प्रकीर्तितः ॥ ४४ ॥
इति ते कथितं सर्वं पृष्टं यदिह त्वयाऽधुना ।
परहंसाश्रमे भूयः किमन्यच्छ्रोतुमिच्छसि ॥ ४५ ॥



प्रकाशक—भार्गवपुस्तकालय, गायघाट, बनारस सिटी ।
मुद्रक—पं० रामचन्द्र माधवराव पलसुले,
सांगवेद विद्यालय प्रेस, रामघाट, काशी ।